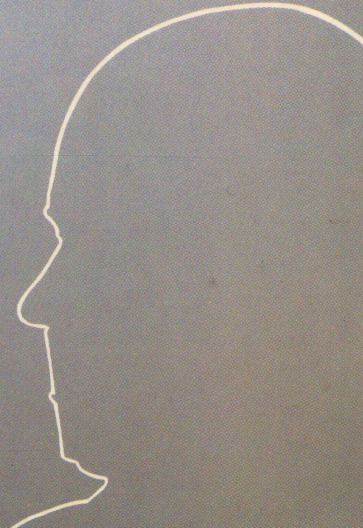
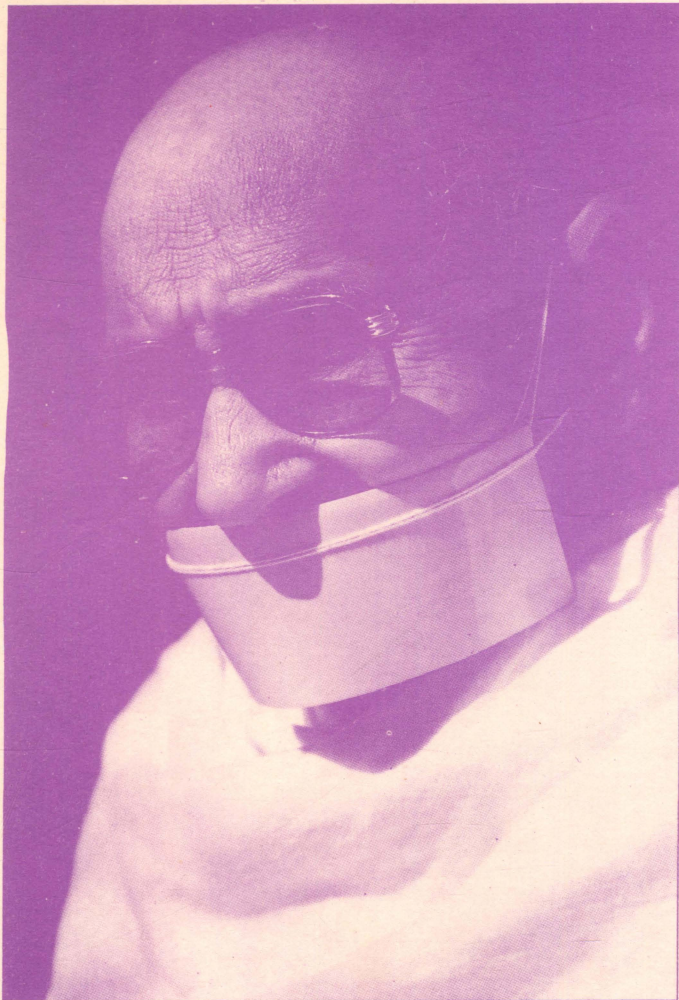


जैन भाष्यती

वर्ष 49 • अंक 6 • जून, 2001



हार्दिक शुभकामनाओं सहित :



हेमराज शामसुख्वा

दिनीत टेक्सफैब लिमिटेड

101, मामुलपेट, बंगलौर 560053

फोन : 2872355, 2871754

शुभू पटवा

मानद संपादक

बच्छराज दूगड़

मानद सह-संपादक

जैन भाष्यती

जून, 2001

वर्ष 49

अंक 6

रु. 15.00

विमर्श

9

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

कर्म बंध—कारण-निवारण

15

सन्तोष आचार्य

भारतीय कर्मवाद—लौकिक का

आध्यात्मिक रूपांतरण

21

चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य

कर्म-विधान

●

आवरण

अडिग

एवं

दीपचन्द

अनुभूति

25

विमला ठकार

अहिंसक समाज रचना की चुनौतियां

28

आचार्यश्री तुलसी

कल का क्या भरोसा

30

परिमिता पटवा लोढ़ा

प्रकृति के रिश्तों को पहचानें

32

समणी अमितप्रज्ञा

आध्यात्मिक आजादी के लिए

34

कहानी

जयशंकर प्रसाद

पुरस्कार

40

कविता

नेमिचन्द्र जैन की कविताएं

प्रसंग

5

शुभू पटवा

सत्य-यश : विचारणीय पहलू

शीलन

43

साध्वी संघप्रभा

निर्धूम दीप की अप्रकंप लौ

46

फादर बालेस

आत्मबल के प्रयोग सूत्र

47

साध्वी शुभ्रयशा

सदाचार के सूत्र

50

चंद्रकांता सोलंकी

उज्ज्वल किरणों का स्पर्श

52

बालकथा

मनोज दास

धूर्त नगरी

55

जैन भारती पाठक पहेली

सदस्यता शुल्क

वार्षिक 125/- रुपये

त्रैवार्षिक 350/- रुपये

दसवर्षीय 1000/- रुपये

प्रधान कार्यालय

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

3, पोचुगीज चर्च स्ट्रीट

कोलकाता 700001

प्रकाशकीय कार्यालय

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

तेरापंथ भवन, महावीर चौक

गंगाशहर, बीकानेर 334401

‘मनुष्य के सांस्कृतिक इतिहास में धर्म का संबंध उसकी सभी महत्वपूर्ण क्रियाओं से रहा है : पौराणिकता तथा जादू से, अनुष्ठान और नैतिकता से, विज्ञान और दर्शन से, संगीत और स्थापत्य से, कला और साहित्य से। श्री हॉकिंग ने धर्म को ‘कलाओं की जननी’ कहा है। वह कहते हैं कि धीरे-धीरे विभिन्न कलाओं ने अपने को धर्म से मुक्त किया है, और अलग-अलग, स्वयं अपने को लक्ष्य मानते हुए, विकास किया है—कला कला के लिए, विज्ञान विज्ञान के लिए, नैतिकता नैतिकता के लिए, आदि। बर्ट्रेण्ड रसेल के अनुसार प्रत्येक ऐतिहासिक धर्म के तीन पहलू रहे हैं—चर्च अथवा पुरोहित मंडल, कतिपय अनुष्ठान, और व्यक्तिगत नैतिकता के नियम। इन तीनों ही रूपों में धर्म का विज्ञान से झगड़ा होता आया है। यह भी स्पष्ट है कि इस झगड़े में लगातार विज्ञान की जीत होती गई है, और धर्म की हार। इसलिए यह प्रश्न उठता है कि धर्म का क्या भविष्य है? अथवा, क्या धर्म का कोई भविष्य है? क्या धर्म नाम की वस्तु कुछ दिनों बाद तिरोहित नहीं हो जाएगी?

कुछ विचारकों के अनुसार स्वयं दर्शन भी, एक स्वतंत्र शास्त्र के रूप में, कालांतर में तिरोहित हो जाएगा। तर्कमूलक भाववादियों ने अभी ही तत्त्वमीमांसा का निराकरण कर दिया है। उनसे पहले एंगेल्स ने अपनी ‘एंटी-डुहरिंग’ पुस्तक में यह घोषणा की थी कि द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को विज्ञानों से भिन्न किसी दर्शन की जरूरत नहीं है। किंतु इन निराशापूर्ण भविष्यवाणियों के बावजूद दार्शनिक चिंतन चलता ही जा रहा है; हमारा विश्वास है कि इसी प्रकार आध्यात्मिक अनुभव तथा संवेदना भी चलते ही रहेंगे। कारण यह है कि दर्शन और मोक्षधर्म दोनों का विषय जीवन के मूल्य हैं, न कि तथ्य; जब तक मनुष्य मूल्यों का अनुसंधान करता रहेगा, तब तक वह दार्शनिक-आध्यात्मिक स्रोत से विरत नहीं होगा। दार्शनिक होने के नाते मनुष्य संपूर्ण मूल्य-क्रम को समझ लेना चाहता है; धार्मिक होने के नाते वह उच्चतम मूल्यों की उपलब्धि कर लेना चाहता है।’

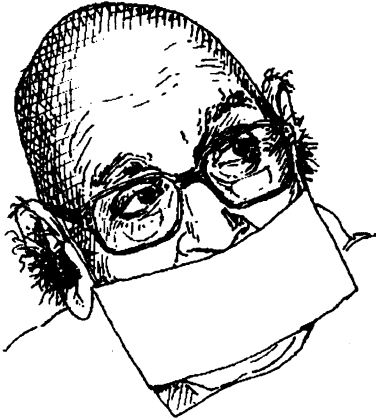
—डॉ. देवराज



अनुशासन आत्मशुद्धि के लिए भी आवश्यक होता है और सामुदायिक व्यवस्था के लिए भी। इनमें एक नैश्चयिक पक्ष है और दूसरा व्यावहारिक। मुनि जीवन भर के लिए पांच महाव्रतों को अंगीकार करता है, यह नैश्चयिक अनुशासन का पक्ष है।

महाव्रतों को एक-एक कर स्वीकार नहीं किया जा सकता। इनका स्वीकार एक ही साथ होता है। महाव्रत उस धागे से पिरोई हुई माला है, जिसमें मनकों के बीच-बीच में गांठ नहीं होती। वे एक ही सरल धागे में एक साथ रहते हैं और धागा टूटता है तो सारे के सारे मनके गिर जाते हैं। अणुव्रत उस धागे में पिरोई हुई माला है, जिसमें प्रत्येक मनके के बीच गांठ होती है। वह एक गांठ के बाद एक होता है और धागा टूटता है तो एक ही मनका गिरता है, सारे के सारे नहीं गिरते। महाव्रत मूलगुण है। इनकी सुरक्षा के लिए ही उत्तरगुणों की सृष्टि होती है। मर्यादाएं उत्तरगुण हैं। मूल पूंजी ही न रहे तो उसकी सुरक्षा का प्रश्न ही मूल्यहीन हो जाता है। अनुशासन और विनय का मूल्य महाव्रती जीवन में ही बढ़ता है।

‘भिक्षु विचार दर्शन’ से

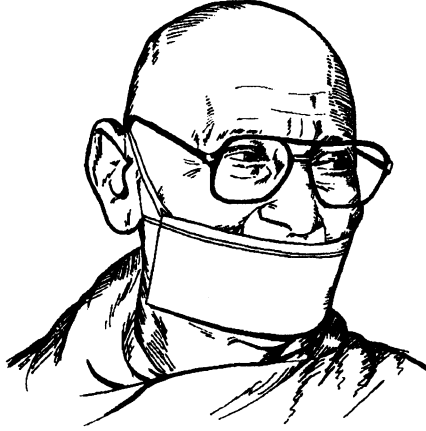


पुण्य स्मरण : विनम्र नमन

आषाढ कृष्ण तृतीया : 9 जून

कुछ लोग निर्लक्ष्य जीवन जीते हैं। जीना है, इसलिए जीते हैं। ऐसे लोग जीने की कोई विधा नहीं अपनाते। कैसे जीना चाहिए? यह प्रश्न इनके सामने कभी आता ही नहीं। जिनके सामने कलात्मक या सार्थक जीवन जीने का लक्ष्य होता है, वे उक्त प्रश्न पर गंभीरता से विचार करते हैं। निराशा और कुंठा में जीना उनको पसंद नहीं होता। उनके सामने जीने की एक प्रक्रिया होती है। वे सोचते हैं—‘पर्वत की चोटी के देवदार न बन सकें तो कम से कम घाटी का पौधा तो बनें। सूरज जितना उजाला न कर सकें तो कम से कम दीपक तो बनें। राजपथ न बन पाएं तो पादवीथी तो बनें। जीवन का एक-एक क्षण सार्थक हो, इसके लिए समय का सम्यक् नियोजन करना सीखें। विधायक भावों का विकास करें। हर स्थिति में संतुलन बना रहे। दुःख में सुख की सोज करें। महत्वाकांक्षाओं के जाल में न फंसेकर सहजभाव से अपने पुरुषार्थ का उपयोग करें। उक्त चिंतन एक विशिष्ट जीवन शैली की सृचना देने वाला है। जो लोग इस विधि से जीने का संकल्प करते हैं, वे कुछ उपलब्धि प्राप्त कर सकते हैं।

—आचार्यश्री तुलसी



धर्म व्यक्तिगत होता है। वह सामाजिक या राष्ट्रीय नहीं होता। जो सामाजिक या राष्ट्रीय होता है, वह धर्म का संस्थान हो सकता है धर्म नहीं। धर्म का अर्थ है, आत्मा की पवित्रता। वह वैयक्तिक ही हो सकता है।

कर्तव्य राष्ट्रीय हो सकता है। उसका अर्थ है नीति को क्रियान्वित करना। उसका संबंध आत्मा की पवित्रता से नहीं है, किंतु दायित्व से है।

नीति भी राष्ट्रीय हो सकती है। वह सामाजिक जीवन जीने की पद्धति है। समूचे समाज या राष्ट्र के लिए जनता उसे निश्चित करती है। वह व्यक्तिगत शुद्धि या रुचि के आधार पर नहीं बनती, किंतु जनता के सामूहिक हितों के आधार पर निश्चित होती है।

कर्तव्य धर्म हो सकता है, पर वह धर्म ही है—यह नहीं होता। नीति धर्म हो सकती है, पर वह धर्म ही है, यह नहीं होता। इसका फलित अर्थ यह है कि धर्म और कर्तव्य सर्वथा एक नहीं हैं। धर्म आत्मा से अभिन्न होता है, उसे छोड़ा नहीं जा सकता। नीति समय-समय पर बदलती रहती है।

आज हिंदुस्तान के सामने धर्म, कर्तव्य और नीति—ये तीनों प्रश्नचिह्न बने हुए हैं। सदाचार को अपना धर्म मानकर चलने वाले लोग बहुत कम हैं। वह राष्ट्रीय कर्तव्य के रूप में भी नहीं अपनाया गया है। राष्ट्रीय नीति के रूप में भी उसे बहुत बल नहीं मिल रहा है। इसीलिए असदाचार सदाचार पर हावी हो रहा है। इस स्थिति को बदलने के लिए धार्मिक पवित्रता का वातावरण बनाना, कर्तव्यबुद्धि को जगाना और नीति का दृढ़ता के साथ निधारण करना—ये तीनों अपेक्षित माने जाते रहे हैं। इस सचाई को हम अस्वीकार नहीं करते कि धार्मिक बुद्धि भी नीति जितनी व्यापक नहीं हो सकती। नीति के साथ कानून की शक्ति है, इसलिए वहां अनिवार्यता है। कर्तव्य के साथ दंड-शक्ति नहीं है। वह बौद्धिक-शक्ति का विकास है। धर्म आत्मा का आंतरिक प्रकाश है।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

सत्य-यश : विचारणीय पहलू

सत्य का यश, इसकी महिमा सदा-सर्वत्र होती रही है। इससे बड़ा कोई तप नहीं माना गया। सत का तप यदि है तो क्रुद्ध स्वभाव वाले ऋषि-महर्षि भी 'सत्पुरुष' माने गए हैं। क्रोध में करुणा, प्रेम और सहिष्णुता जैसे गुण तिरोहित हो जाते हैं—तब हिंसा, उत्तेजना और असमत्व का प्रवेश होते देर नहीं लगती, पर ऐसे जन भी यदि सत्यवादी हैं तो वे 'सत्पुरुष' हैं। हमारे वांग्मय में अनेक ऋषि-महर्षियों के क्रोधित रूपों और उनके परिणामों के उल्लेख-किस्से विद्यमान हैं, पर वे सत्पुरुष हैं—ऋषि-महर्षि हैं, पूज्य हैं। यहां तक माना गया है कि असत्य ही नैतिक दोष है, बाकी सब व्यावहारिक दोष हैं। आचार्य विनोबा भावे जीवन के स्वरूप को ही 'सत्य शोधनम्' मानते हैं। यहीं वे कहते हैं कि—'असत्य ही नैतिक दोष है, बाकी सब व्यावहारिक दोष हैं।' विनोबा आस्थापूर्वक मत रखते हैं—'यह वृत्ति समाज में स्थिर हो जाए तो निश्चय ही आज के झंझटों से हम मुक्त हो जाएं।' महात्मा गांधी तो अपनी आत्मकथा को ही 'सत्य के मेरे प्रयोग' कहते रहे हैं। सत्य के प्रति उनकी निष्ठा सदा असंदिग्ध रही है। वे सत्य में ही परमेश्वर का रूप देखते हैं और कहते हैं—सत्य रूपी परमेश्वर मेरे लिए 'रत्न चिंतामणि' सिद्ध हुआ है।

भारत का (भारत सरकार का) ध्येय वाक्य भी 'सत्यमेव जयते' है। सत्य की विजय को लेकर आदर्श कथाएं बचपन से ही सुनने को मिलती रही हैं। बचपन में जब से यह सिखाना शुरू होता है—सदा सत्य बोलो, तब से ही 'असत्य' के प्रति जिज्ञासा भी बढ़नी शुरू हो जाती है और फिर यह ज्ञान भी कि असत्य क्या है। सत्यवादियों की कहानियां सुन-सुन कर यह ज्ञान भी हो जाता है कि जो सत्य बोलते हैं, उनके जीवन में बड़े कष्ट आए हैं। उनको विषम कठिनाइयां झेलनी पड़ी हैं, मानसिक-शारीरिक संताप उठाने पड़े हैं। सत्यवादी हरिश्चंद्र, भक्त प्रह्लाद, इमाम हसन हुसैन और ईसाई संत और न जाने कितने ही किस्से हैं जो बताते हैं कि सत्य-भाषी कैसे-कैसे कष्ट उठाते रहे हैं। तब भी उन्होंने अपना सत्य-व्रत नहीं छोड़ा।

आज भी हमें ऐसे जन मिल सकते हैं जो भूख मरने को, दुख झेलने को तैयार हैं, पर अपना सत्यव्रत नहीं छोड़ते। हर प्रकार के कष्ट-बाधाओं को झेल कर भी वे असत्य का सहारा नहीं लेंगे। दूसरी ओर जिनके लिए सत्य-असत्य के प्रति किसी प्रकार का

आग्रह नहीं, कोई फर्क इसमें नहीं करते—अपने दैनंदिन जीवन में वे बड़े सुखी, सफल और सिद्ध माने जाते हैं। समाज में भी उनका सम्मान है और नैतिक-अनैतिक शंकाओं से भी वे मुक्त हैं। समाज के ऐसे सभी शीर्ष पुरुषों को आज हम देखें तो पाएंगे कि सभी सफल हैं, पर सत्य के बल पर हैं—यह नहीं कह सकते। अलबत्ता यह स्पष्ट है कि ‘सत्य-तप’ जिनका संबल है—वे असफल माने जाते हैं, उनका जीवन कष्टकर है।

तब प्रश्न किया जा सकता है कि तप का अर्थ क्या है? उसकी फलश्रुति यदि कष्ट ही उठाना है तो ऐसा करने के तात्पर्य क्या हैं? ‘सत्यमेव जयते’ भारत का ध्येय वाक्य है, पर भारत का शासन क्या उन हाथों में आ सकता है जो इस ध्येय वाक्य पर निष्ठापूर्वक अडिग रहें? आज की स्थिति को देखकर तो यही कहा जा सकता है कि सत्य की सीढ़ियों पर चढ़कर कोई इसमें सफल हो सकता हो—कह पाना कठिन है, बल्कि नामुमकिन-सा लगता है। लेकिन एक सवाल यह भी उठता है कि ‘तप’ कभी ऐसी क्षुद्र अपेक्षाओं को लेकर नहीं किया जाता और यह भी एक वास्तविकता है कि कोई असत्य-भाषी कभी यह स्वीकारते हुए नहीं बोलता कि—‘जो कुछ वह कह रहा है—‘असत्य’ है।’ झूठ ही सही—उसे भी सत्य का सहारा लेना ही पड़ता है। सत्य का लेप चढ़ाकर ही असत्य का अस्तित्व स्थापित किया जाता है। यह कौन नहीं जानता कि ज्यों-ज्यों वह लेप क्षीण होता जाता है, त्यों-त्यों असत्य की नैया डगमगाने लगती है। फिर ऐसे लोगों की जो दशा नजर आती है वह कितनी दयनीय होती है—यह बताने की आवश्यकता नहीं। पर यह विडंबना ही है कि सत्य की बैसाखी पर चढ़कर ही असत्य का परचम फहराया जाता है और ‘सत्य’ ठगा-सा प्रतीत होता है।

यह वैसी ही विरोधाभासी स्थिति है जैसी कि भले-बुरे लोगों के अनुपात में दृष्टिगत होती है। सब जानते हैं कि समाज में अधिसंख्य जन भले-मानस हैं—तब भी विषमता, अराजकता, अत्याचार, अनाचार और विग्रह व्याप्त है और मुट्ठी भर ऐसे लोग ही इसकी जड़ में हैं। पर विष-बेल की इस जड़ को समूल उखाड़ फेंकने की कोई स्थिति कभी निर्मित नहीं हो पाई। क्या यह ‘सज्जन शक्ति’ के बिखराव का प्रतिफल नहीं? वे मुट्ठी भर लोग आसानी से एकजुट हो सकते हैं जिनके निहित स्वार्थ हैं, लेकिन वह शक्ति सदैव असंबद्ध रही है जिसका ऐसा कोई स्वार्थ नहीं होता। भारत की आजादी के आंदोलन में महात्मा गांधी ने व्यापक स्तर पर बस एक बार इस शक्ति को संगठित कर लिया था, पर स्वतंत्रता के बाद देश के जो हालात बने, उसमें स्वयं गांधी भी असहाय-से हो गए थे और वे फिर रहे भी नहीं। सौभाग्य से गांधी रहते भी तो क्या वे निरुपाय होते? उनके बाद जो हालात आज तक सामने हैं उससे यदि नतीजा निकाला जाए तो कहना होगा कि शायद ऐसा ही होता।

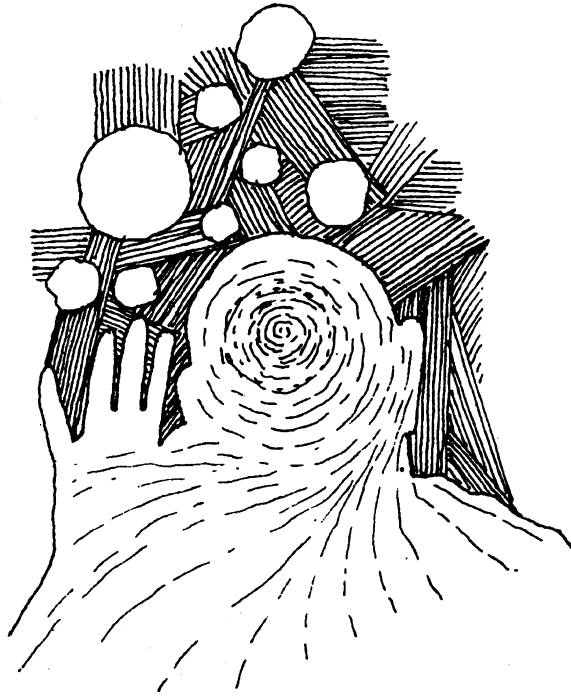
तब भी सत्य की महत्ता—समाज में इसके स्थायित्व और प्रासंगिकता—को किसी सूरत में अस्वीकार नहीं किया जा सकता। तब एक प्रश्न फिर उपस्थित होता है—‘सत्य क्या है?’ क्या इसकी कोई परिभाषा अथवा व्याख्या हो सकती है? आचार्य विनोबा भावे कहते हैं—‘सत्य की व्याख्या नहीं हो सकती।’ लेकिन वे यह भी कहते हैं—‘सत्य के लिए समत्व आवश्यक है। जीवन का स्वरूप है ‘सत्यशोधनम्’। आचार्यश्री महाप्रज्ञ कहते हैं—‘सत्य और असत्य के विकल्प बनते हैं परोक्षानुभूति और भाषा के क्षेत्र में।’ वे भगवान महावीर का संदर्भ देकर बताते हैं—‘जितने वचन-प्रकार हैं, वे सब सत्य हैं—यदि सापेक्ष हैं। जितने वचन-प्रकार हैं, वे सब असत्य हैं, यदि निरपेक्ष हैं।’

सत्य को लेकर हमारे शास्त्र और नीति वाक्य बड़े उदार हैं। कहा जाता है—सदा हितकारी सत्य वचन बोलें, दूसरों को पीड़ा पहुंचाने वाले असत्य वचन न तो स्वयं बोलें, न दूसरों से बुलवाएं, मर्मभेदक वचन भी न बोलें। यहां तक कहा गया है कि—चोर को चोर कहना यद्यपि सत्य है, तथापि ऐसा कहना उचित नहीं। क्योंकि इससे उन आत्माओं को दुख पहुंचता है। साथ ही यह भी कहा गया है—हे पुरुष! तू सत्य को ही पहचान। यहीं पर भगवान बुद्ध का कथन है—‘जिसे जान-बूझकर झूठ बोलने में लज्जा नहीं आती, वह कोई भी पाप कर सकता है। इसलिए तू अपने हृदय में अंकित कर ले कि मैं हंसी-मजाक में भी कभी असत्य नहीं बोलूंगा।’

स्पष्ट है कि सत्य का यश निर्विवाद है, पर जो नीति सूत्र और शास्त्रोक्त कथन कहे जाते रहे हैं उनसे जो द्वंद्व सामने आ उपस्थित होते हैं—वे भी विचारणीय हैं। ये सूत्र-वाक्य सत्य के तेज, उसके तप को कहीं मंद तो नहीं कर रहे? गांधी की तरह ‘सत्य के मेरे प्रयोग’ करने वालों की आज इसीलिए अधिक आवश्यकता है, पर गांधी की तरह क्यों—उनसे हटकर, उनसे और आगे। भारतीय प्रज्ञा और मनीषा इस चुनौती को कबूल करे—विचारे।

— शुभू पटवा

चिमर्श



‘छद्म आधुनिकीकरण पहली चुनौती है। हमने आधुनिकता के आधार-मूल्य-तार्किक विवेक, परानुभूति, सामाजिक गतिशीलता और सक्रिय सहभागिता—नहीं अपनाए। हम उसके बाद उपभोगवादी लक्षणों में ही उलझ कर रह गए हैं। इससे व्यक्तिकेंद्रिकता बढ़ी है, सामाजिक सहकार का हास हुआ है। व्यक्तिगत धरातल पर लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया ने सामाजिक प्रस्थिति और भूमिकाओं को उगमगा दिया है। धर्मनिरपेक्षता आज के संदर्भ में धर्मविमुखता बन गई है। धर्म के आधार सिद्धांत विस्मृत होते जा रहे हैं, तांत्रिक और चमत्कारी बाबा फल-फूल रहे हैं, क्योंकि वे अच्छे दामों पर स्वार्थों की सेवा में रत हैं। हमारी संस्कृति अनुकरण की भोगवादी और लिप्सावादी संस्कृति बन गई है। आर्थिक उदारता, खुलापन और वैश्वीकरण संसार भर में एक अपसंस्कृति फैला रहे हैं। हम इस प्रवृत्ति के असहाय दर्शक मात्र बन गए हैं।

दूसरी चुनौती है धर्म के दुरुपयोग की। जहां एक सशक्त नवजागरण का प्रतिबद्ध प्रयत्न होना चाहिए था, वहां हम धर्म को अल्पकालिक लाभ का साधन बना रहे हैं। धर्म की उदात्त भावनाएं और मंगलकारी सिद्धांत भुला दिए गए हैं, प्रश्रय दिया जा रहा है विवेकहीन धर्मांधता को। और तीसरी चुनौती है अविवेकी और निकट दृष्टि की राजनीति की। जहां विश्व के सामने युद्ध, पर्यावरण, ऊर्जा, भूख, निवासहीनता और सार्वजनिक स्वास्थ्य के विराट प्रश्न उत्तरों की खोज कर रहे हैं, हम कुर्सी और सत्ता के खेल में लगे हैं। है किसी को भविष्य की चिंता? समय रहते हमें स्थिति की भयंकरता का जायजा लेना है, और अपना भविष्य स्वयं अपने हाथों में लेना है।’

—श्यामाचरण दुबे

समूचे कर्मशास्त्र को साधना के संदर्भ में समझें तो दो बातें बहुत ही स्पष्ट हो जाती हैं कि चंचलता के द्वारा कर्म-परमाणु खींचे जाते हैं और कषाय के द्वारा वे टिके रहते हैं और अपना फल देते हैं। फल की तीव्रता और मंदता कषाय के आधार पर होती है। दीर्घकाल की स्थिति और अल्पकाल की स्थिति कषाय के आधार पर होती है। स्थिति और फलदान की शक्ति—ये दोनों कषाय पर निर्भर हैं। कषाय ही कर्म-स्थिति को घटाता-बढ़ाता है और कषाय ही फलदान की शक्ति में तीव्रता या मंदता लाता है। कर्म का आकर्षण केवल चंचलता के आधार पर होता है।

कर्म बंध —कारण-निवारण

✍ आचार्यश्री महाप्रज्ञ

मन दो प्रकार का है—चेतन मन और अवचेतन मन। चेतन मन जो कुछ करता है वह सब वर्तमान का ही नहीं होता, किंतु उसमें अवचेतन मन का हिस्सा भी होता है, उसका प्रभाव होता है। यह स्वीकृति उपलब्ध तथ्यों की स्वीकृति है। यदि सूक्ष्म में जाएं तो कर्मशास्त्र की वह स्वीकृति भी प्राप्त हो सकती है कि मनुष्य जो काम करता है वह केवल वर्तमान परिवेश, वर्तमान परिस्थिति से प्रभावित होकर ही नहीं करता, प्रभाव का जो हेतु है वह बहुत सूक्ष्म में और बहुत दूर तक चला जाता है। वह हेतु है कर्म-शरीर या पूर्व-अर्जित कर्मसमूह। उससे प्रभावित होकर ही मनुष्य काम करता है। दबी हुई इच्छाएं, दबी हुई आकांक्षाएं अवचेतन मन में चली जाती हैं और जब वे जागृत होती हैं तो चेतन मन प्रभावित होकर काम करने लग जाता है। इस मनोविज्ञान की भाषा को हम कर्मशास्त्रीय भाषा में इस प्रकार बदल दें कि पूर्व-अर्जित कर्म जब उदय में आते हैं, अपना फल देना शुरू करते हैं तब स्थूल मन उनसे प्रभावित होता है और वह उनके अनुसार ही व्यवहार और आचरण करने लग जाता है।

दो काल हैं—एक क्रिया का काल, प्रवृत्ति का काल और दूसरा कर्म-बंध का काल। जब कोई प्रवृत्ति होती है, उसी क्षण कर्म का बंध हो जाता है। प्रवृत्ति का फल मिल जाता है। प्रवृत्ति का फल है कर्मों का अर्जन। वह तत्काल प्राप्त हो जाता है। क्रिया के साथ-साथ फल होता है। क्योंकि प्रत्येक क्रिया परिणाम को साथ लिए चलती है। परिणाम पीछे नहीं होता, तत्काल होता है। क्रिया और परिणाम में इतना अंतराल नहीं हो सकता कि हम आज क्रिया करें और उसका परिणाम सौ वर्ष बाद या हजार वर्ष बाद हो। एक आदमी धन कमाने की प्रवृत्ति करता है। उसका परिणाम—धन की प्राप्ति हो या अप्राप्ति—तत्काल हो जाता है। धन का अर्जन हो गया, किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि उसका पूरा उपभोग भी तत्काल ही हो जाता है। परिणाम तत्काल मिल जाता है, किंतु परिणाम

का उपभोग लंबे समय तक होता रहता है। अर्जन उसी क्षण होता है, उपभोग होता रहता है।

कर्म का बंध, कर्म परमाणुओं का अर्जन क्रिया का परिणाम है। वह अर्जन तत्काल हो जाता है। यह कभी नहीं होता कि क्रिया अभी हो रही है और कर्म का बंध कभी बाद में होगा। ऐसा कभी नहीं हो सकता। कर्म का बंध तत्काल हो जाता है। उसी क्षण में हो जाता है। किंतु जो अर्जित हो गया, जो संगृहीत हो गया, वह कब तक साथ रहेगा—इसका स्वतंत्र नियम है। यह नहीं होता कि जिस क्षण में किया, उसी क्षण में वह आया और अपना फल देकर चला गया। ऐसा नहीं होता। अर्जन का काल क्षण-भर का है और उपभोग का काल बहुत लंबा है। प्राणी दीर्घ काल तक अर्जित कर्मों का उपभोग करता रहता है। प्राणी ने जो अर्जित किया, जिन कर्म-परमाणुओं का संचय किया, वे कर्म-परमाणु जिस क्षण में संचित होते हैं उसी क्षण में फल देने में समर्थ नहीं होते। प्रवृत्ति या आसव का मुख्य फल होता है कर्मों का अर्जन। वह प्रवृत्ति काल में ही हो जाता है। किंतु जो अर्जित कर्म-पुद्गल हैं वे कब सक्रिय होंगे, कब तक सक्रिय रहेंगे, इसका नियम अर्जन के नियम से भिन्न होता है। तत्काल सक्रियता नहीं होती। आज बच्चा जन्मा, वह कानून की दृष्टि से संपत्ति का अधिकारी तो हो गया, किंतु उसे पूरा अधिकार तब होगा जब वह नाबालिग अवस्था को पार कर जाएगा, वयस्क बन जाएगा। जब तक वह वयस्क नहीं हो जाता, तब तक उस संपत्ति का संरक्षण कोई अभिभावक करेगा। बच्चे को कार्यकारी स्वामित्व प्राप्त नहीं होगा। उसे जन्मजात स्वामित्व प्राप्त है, किंतु कार्यकारी स्वामित्व वयस्क होने पर ही मिलेगा।

ठीक यही नियम कर्म-जगत में लागू होता है। कर्म का जो बंध हुआ है, कर्म-परमाणुओं का जो अर्जन हुआ है, वह आज ही कार्यकारी नहीं होगा। कुछ काल तक वे कर्म-परमाणु

सत्ता में रहेंगे, उदय में नहीं आएंगे। वह सत्ताकाल अबाधाकाल कहलाता है। इसका तात्पर्य है कि वे कर्म-परमाणु अस्तित्व में हैं, किंतु अभी कार्यकारी नहीं हैं। वे कुछ भी करने में समर्थ नहीं हैं। अपना परिणाम प्रदर्शित करने की क्षमता उनमें प्रकट नहीं हुई है। वे अस्तित्व में हैं, किंतु वे अव्यक्त रूप में पड़े हुए हैं। बीज बोया गया, वह अस्तित्व में है, किंतु वह अभिव्यक्त नहीं हुआ, अंकुर के रूप में प्रकट नहीं हुआ। अंकुर के फूटने में थोड़ा समय लगेगा। अंकुर फूटेगा तब वह पौधा बनेगा, आगे बढ़ेगा, ऊपर आएगा। बीज भूमि में बोया गया, यह बंध का काल है। बंध के बाद होता है—सत्ता का काल। जब तक कर्म सत्ताकाल में रहेगा, तब तक वह कार्यकारी नहीं होगा। वह अपना परिणाम नहीं दे सकेगा। सब कर्मों का अपना-अपना अस्तित्वकाल होता है। जब यह अस्तित्वकाल या सत्ताकाल या अबाधाकाल पूरा होता है तब कर्म विपाक की स्थिति में आता है और अपना फल देने लगता है। फलदान कब तक होता है, इसकी भी एक मर्यादा है, सीमा है; उस मर्यादा को कर्मशास्त्र की भाषा में कहा जाता है—स्थितिकाल। यह कर्म बंध की चौथी अवस्था या व्यवस्था है।

पहली अवस्था है कर्म-परमाणुओं के आने की, उनके संग्रह की। इसे 'प्रदेश-बंध' कहा जाता है।

दूसरी अवस्था है कर्म-परमाणुओं के स्वभाव-निर्माण की। कौन-सा कर्म किस स्वभाव का होगा, इस अवस्था को 'प्रकृति-बंध' कहा जाता है।

तीसरी अवस्था है कर्म-परमाणुओं से रस-शक्ति के निर्माण की। कौन-से कर्म में कितनी रस-शक्ति है, इस अवस्था को 'अनुभाग-बंध' कहा जाता है।

चौथी अवस्था है कर्म-परमाणुओं के स्थिति-काल की। कौन-सा कर्म आत्मा के साथ कितने समय तक रह पाएगा, इस अवस्था को 'स्थिति-बंध' कहा जाता है।

ये चारों अवस्थाएं कर्म बंध के साथ ही निष्पन्न हो जाती हैं। कर्म के स्थितिकाल के अनुसार उनका सत्ताकाल होता है। जब वह पूरा हो जाता है तब एक-एक निषेक का, परमाणु-पुंज का प्रकटीकरण होने लगता है और प्राणी फल भोगने लगता है। जब सारे परमाणु-पुंज समाप्त हो जाएंगे, कर्म-स्थिति समाप्त हो जाएगी तब कर्म अपना फल प्रदर्शित कर शेष हो जाएंगे, नष्ट हो जाएंगे, आत्मा में विलय हो जाएंगे। इसे कर्म-क्षय कहा जाता है।

ये चार अवस्थाएं हैं। इनके घटक हैं—राग और द्वेष। हमारी रागात्मक और द्वेषात्मक प्रवृत्ति के द्वारा ये घटित होती

हैं। हम अपनी चंचलता के द्वारा कर्म-परमाणुओं को आकर्षित करते हैं। कषाय के द्वारा उन कर्म-परमाणुओं को टिकाकर रखते हैं। आकृष्ट करना और टिकाकर रखना—ये दो बातें हैं। आकर्षण होता है मन, वचन और शरीर में चंचलता के द्वारा और उनका टिकाव होता है कषाय के द्वारा। वे कषाय के द्वारा बांधकर रखे जाते हैं। कषाय जितना तीव्र होगा, उतने ही दीर्घकाल तक कर्म-परमाणु आत्मा के साथ चिपके रहेंगे। कर्म-परमाणुओं को चिपकाए रखना कषाय का काम है और उन्हें आकृष्ट करना चंचलता का काम है।

क्या यह हमारी साधना का सूत्र नहीं बन सकता? क्या यह साधना का आधार नहीं बन सकता? यह साधना का सूत्र बन सकता है, आधार बन सकता है।

हमारी साधना के दो आधार बिंदु हैं—चंचलता को रोकना और कषाय को कम करना, राग-द्वेष को कम करना। तटस्थ होना, समभाव में रहना, स्थिर रहना—ये ही साधना के दो सूत्र हैं। समूचे कर्मशास्त्र को साधना के संदर्भ में समझें तो दो बातें बहुत ही स्पष्ट हो जाती हैं कि चंचलता के द्वारा कर्म-परमाणु खींचे जाते हैं और कषाय के द्वारा वे टिके रहते हैं और अपना फल देते हैं। फल की तीव्रता और मंदता कषाय के आधार पर होती है। दीर्घकाल की स्थिति और अल्पकाल की स्थिति कषाय के आधार पर होती है। स्थिति और फलदान की शक्ति—ये दोनों कषाय पर निर्भर हैं। कषाय ही कर्म-स्थिति को घटाता-बढ़ाता है और कषाय ही फलदान की शक्ति में तीव्रता या मंदता लाता है। कर्म का आकर्षण केवल चंचलता के आधार पर होता है।

कर्म को रोकना है तो हमें उसी क्रम से चलना पड़ेगा कि पहले चंचलता कम होती चली जाए, स्थिरता की मात्रा बढ़ती चली जाए। कायोत्सर्ग इसीलिए किया जाता है कि शरीर की चंचलता कम हो, समाप्त हो। हम श्वास की प्रेक्षा करते हैं, श्वास को मंद करते हैं, श्वास को सूक्ष्म करते हैं, इसीलिए कि चंचलता कम हो जाए, काया की चंचलता कम हो। श्वास काया का ही एक हिस्सा है। वह शरीर से भिन्न नहीं है। शरीर की चंचलता को कम करने के लिए श्वास का संयम करते हैं। मन को स्थिर करने का प्रयत्न करते हैं, निर्विचार और निर्विकल्पना की साधना करते हैं कि चंचलता कम हो। मौन करते हैं ताकि वाणी की चंचलता कम हो। जब वाणी की चंचलता कम होती है, मन की चंचलता कम होती है और शरीर की चंचलता कम होती है तो कर्म-परमाणुओं का आना कम हो जाता है।

दूसरी बात है—काया की जो थोड़ी-बहुत प्रवृत्ति शेष रहती है, वचन की अल्पमात्रा में प्रवृत्ति शेष रहती है और मन

की भी यत्किंचित प्रवृत्ति रहती है, उसके साथ भी आसक्ति न जुड़े, राग-द्वेष का भाव न जुड़े। तटस्थता का विकास हो, समता का विकास हो ताकि अवशिष्ट चंचलता या प्रवृत्ति के द्वारा जो भी कर्म-परमाणु आकृष्ट हों वे लंबे समय तक हमारे साथ न टिक सकें और अपना तीव्र अनुभव, तीव्र प्रभाव हमारे ऊपर न डाल सकें। इससे साधना का कोई भी आयाम शेष नहीं रहता। समूची साधना इसमें समा जाती है। साधना का सार यही है—चंचलता को रोकना और समभाव में रहना। साधना की समूची धारा इन दो तटों के बीच बहती है। ये दो ही तट हैं साधना के। कोई भी साधना की ऐसी धारा नहीं है जो इन दो तटों को तोड़कर, इन दो तटों का अतिक्रमण कर प्रवाहित होती हो। यदि कोई ऐसी धारा है तो वह मोक्ष की, स्वतंत्रता की साधना नहीं है, और कुछ साधना हो सकती है। वह वीतरागता की साधना नहीं है, और कुछ हो सकती है। वैसे तो प्रत्येक प्रवृत्ति साधना है। कोई भी प्रवृत्ति साधना के बिना नहीं होती। प्रत्येक प्रवृत्ति को निष्पन्न करने के लिए साधना अपेक्षित होती है। कोई भी कार्य साधना के बिना नहीं होता। कोई भी कार्य साध्य के बिना नहीं होता। प्रत्येक प्रवृत्ति में साध्य, साधन और साधना—तीनों होते हैं। आप कोई भी प्रवृत्ति करें, उसका साध्य होगा कि आप उसको क्यों करना चाहते हैं। उसका साधन होगा कि आप किन-किन साधनों से उसे निष्पन्न करना चाहते हैं। उसकी साधना भी होगी कि आपको उसकी निष्पत्ति में कैसे तपना-खपना होगा।

हम जिस संदर्भ में साधना की चर्चा कर रहे हैं, वह अन्यान्य साधनाओं से कुछ भिन्न है। हमारी समूची साधना की धारा दो तटों के बीच में ही बहे। एक तट है—स्थिरता का और दूसरा तट है—समता का, वीतरागता का, अकषाय भाव का, राग-द्वेष की न्यूनता का। इन दो तटों के बीच साधना की धारा बहे, यही काम्य है। फिर चाहे हम कोई भी प्रवृत्ति करें या निवृत्ति करें। काम करें या न करें, बोलें या न बोलें, सोचें या न सोचें, खाएं या न खाएं। हम कुछ भी करें, उन दोनों तटबंधों को इतना मजबूत बनाए रखें कि उनमें कहीं दरार न होने पाए, छेद न होने पाए और पानी इधर-उधर छितरे बिना तटबंधों के बीच में बहता रहे।

प्रश्न होता है कि कर्म के आकर्षण की प्रक्रिया और संश्लेष की प्रक्रिया के पीछे हेतु क्या हैं? ये दोनों प्रवृत्तियां दो आस्रवों के द्वारा होती हैं। एक आस्रव का नाम है—योग और दूसरे आस्रव का नाम है—कषाय। योग आस्रव और कषाय आस्रव—ये दो आस्रव हैं, जिनके द्वारा कर्मों का आकर्षण और कर्मों का संश्लेष होता है। चंचलता स्पष्ट है, कषाय उतना स्पष्ट नहीं है। चंचलता स्पष्ट दीखती है, कषाय भीतर

छिपा रहता है। वह दिखाई नहीं देता। हमें गूढ़ में जाना होगा, रहस्य में जाना होगा। हमें कहीं-कहीं रहस्यवादी भी बनना होगा और जो छिपा हुआ है, उसके तल तक पहुंचना होगा।

मनोविज्ञान ने मन के तीन विभाग किए हैं—

1. अदस् (Id) मन।
2. अहं (Ego) मन।
3. अधिशास्ता (Super Ego) मन।

पहला विभाग है 'अदस्' मन। इस विभाग में आकांक्षाएं पैदा होती हैं। जितनी प्रवृत्त्यात्मक आकांक्षाएं और इच्छाएं हैं, वे सब मन में पैदा होती हैं। इसमें अचेतन का भाग अधिक है, चेतन का भाग कम।

दूसरा विभाग है 'अहं' मन। समाज-व्यवस्था से जो नियंत्रण प्राप्त होता है, उससे आकांक्षाएं नियंत्रित हो जाती हैं और वे कुछ परिमार्जित भी हो जाती हैं। उन पर अंकुश-जैसा लग जाता है। मन में जो आकांक्षा या इच्छा पैदा हुई 'अहं मन' उसे क्रियान्वित नहीं करता।

तीसरा विभाग है 'अधिशास्ता' मन। यह अहं पर अंकुश रखता है और उसे नियंत्रित भी करता है।

चंचलता अपने आप नहीं होती। चंचलता के पीछे कोई-न-कोई आकांक्षा होती है। हम अपने आप नहीं बोलते। बोलने की जरूरत होती है, आकांक्षा उत्पन्न होती है, कोई विकल्प पैदा होता है, तब हम बोलते हैं। मैं कई बार मौन करने के विषय में सोचता हूं। यह देखकर मुझे अजीब-सा लगता है कि आदमी मौन करता है और प्रवृत्ति इतनी करता है कि शायद बोलने वाला भी नहीं करता या बोलते हुए भी नहीं करता। बड़ा विचित्र लगता है। वाणी का मौन है, किंतु संकेतों से इतनी प्रवृत्ति कर देता है कि शायद बोलने वाला भी न करे। यह मौन नहीं है। मौन का मतलब केवल नहीं बोलना ही नहीं है। उसका मतलब है कि बोलने की अपेक्षा ही कम हो जाए। जिससे हमें बोलने की प्रेरणा मिलती है, हम बोलने के लिए बाध्य होते हैं, उन अपेक्षाओं का कम हो जाना मौन है, न कि वाणी का प्रयोग बंद कर समूचे शरीर को हिला देना, संकेतों से प्रवृत्ति करना मौन है। कुछ लोग मौन भी कर लेते हैं और 'ऊं-ऊं' आदि अव्यक्त ध्वनि से अपना काम भी निकाल लेते हैं। यह कैसा मौन?

आकांक्षा का कम होना, प्रयोजन का कम होना, इच्छाओं का कम होना, अपेक्षाओं का कम होना चंचलता का अपने आप कम होना है। चंचलता अपने आप नहीं होती। घूमने वाली चीज अपने आप नहीं घूमती। उसे घुमाने वाला दूसरा कोई-न-कोई होता है। चक्का घूमता है—चाहे हवा से,

चाहे बिजली से और चाहे और किसी साधन से। वह अपने आप नहीं घूमता, किसी प्रेरणा से घूमता है। चंचलता अपने आप नहीं होती। चंचलता की तह में कुछ और होता है।

पारिभाषिक शब्दावली में चंचलता को योग कहा जाता है। यह योग आस्रव है। योग आस्रव अपने आप प्रवृत्त नहीं होता, उसके पीछे कोई अपेक्षा होती है। वह अपेक्षा है—अविरति। अविरति अर्थात् छिपी हुई चाह। वह छिपी हुई ज्वाला है, आग है। आग भभक रही है। चाह है। सुख को पाने की चाह और दुख को मिटाने की चाह। प्रिय को पाने की चाह और अप्रिय को मिटाने की चाह। अनुकूल को प्राप्त करने की चाह और प्रतिकूल को समाप्त करने की चाह। सुख-सुविधा को पाने की चाह और कष्ट को मिटाने की चाह। यह जो विभिन्न प्रकार की आंतरिक चाह है, आकांक्षा है, इसे मनोविज्ञान की भाषा में 'अदस् मन' कहा गया है। कर्मशास्त्र की भाषा में यह अविरति आस्रव है। अविरति का अर्थ है—विरति का अभाव। अभी तक चाह मिटी नहीं है, प्यास बुझी नहीं है, अतृप्ति है। कंठ अभी तक सूखा-ही-सूखा है। कितना ही पानी पी लिया, पर अभी तक कंठ सूखे हैं। प्यास बुझी नहीं। सारे संसार का पानी पी लिया, पर प्यास बुझी नहीं। यह अमिट चाह। अमिट चाह का जो स्रोत है, उसे अविरति आस्रव कहा गया है। इसकी मात्रा जितनी अधिक होगी, चंचलता अधिक बढ़ेगी। चंचलता यदि स्वाभाविक होती तो सब प्राणियों में समान होती।

कुछ लोग बरामदे में बैठे हैं। सड़क पर बाजे बजते हैं। कुछ खड़े होकर सड़क पर देखने लग जाएंगे, कुछ शांत बैठे रहेंगे। यह अंतर क्यों? जिनमें अविरति प्रबल है, चाह प्रबल है, उत्सुकता प्रबल है, वे देखने को दौड़ेंगे, भागेंगे, प्रयत्न करेंगे, सुनना चाहेंगे। जिनमें अविरति कम है, चाह कम है, उत्सुकता कम है, वे अपने आप में शांत बैठे रहेंगे। अंतर्वृत्ति होकर बैठे रहेंगे। वे बहिर्वृत्ति नहीं रहेंगे। वे बाहर नहीं भागेंगे। यह आकर्षण का कम होना सहजभाव में अंतर्वृत्ति होना है।

मानसशास्त्र में दो प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख है—अंतर्वृत्ति और बहिर्वृत्ति। कामशक्ति जब आगे की ओर बढ़ती है, व्यक्ति बहिर्वृत्ति हो जाता है। बाहर की ओर दौड़ने लग जाता है। जब कामशक्ति की प्रत्यावृत्ति होती है, 'डिप्रेशन' होता है तो व्यक्ति भीतर में सिमट जाता है। उसकी बाहरी वृत्तियां समाप्त हो जाती हैं। हम ठीक इसी कर्मशास्त्रीय भाषा का प्रयोग करें कि अविरति जब तीव्र होती है तब पुरुष बाहर की ओर भागता है। उसकी आकांक्षा इतनी बढ़ जाती है कि वह सारे संसार को अपनी मुट्ठी में बंद करने का प्रयत्न करता है औड़ सब कुछ बाहर-ही-बाहर देखता है।

उसे सब कुछ बाहर-ही-बाहर दीखता है। यह जब अविरति कम होती है, व्यक्ति अपने भीतर सिमटना शुरू हो जाता है। जब भीतर सिमटना शुरू होता है तो आकांक्षाएं कम होती हैं, चंचलता अपने आप कम हो जाती है। एक संस्कृत कवि ने कहा है—

आशा नाम मनुष्याणां, काचिदाश्चर्यशृङ्खला।

यया बद्धाः प्रधावन्ति, मुक्तास्तिष्ठन्ति पङ्गुवत्॥

आशा नाम की एक सांकल है। यह अदभुत सांकल है। लोहे की सांकल से आदमी को बांध दो, वह चल नहीं पाएगा। सांकल को खोल दो, वह चलने लग जाएगा। किंतु आशारूपी सांकल से आदमी को बांध दो, वह दौड़ने लग जाएगा। सांकल को खोल दो, वह पंगु की तरह बैठ जाएगा। कितनी उल्टी बात है। एक सांकल वह है जिसमें बंधा आदमी चल नहीं सकता, सांकल से मुक्त होते ही वह दौड़ने लग जाता है। एक सांकल वह है जिससे बंधा आदमी दौड़ने लगता है और मुक्त होने पर एक पैर भी नहीं चल पाता। कितनी विचित्र बात है!

चंचलता पैदा करने वाला, सक्रियता पैदा करने वाला, भटकाने वाला जो तत्त्व है, वह है अविरति। यह एक ऐसी प्यास है जिसे हम अभी तक बुझा नहीं पाए। इतना भोगकर भी बुझा नहीं पाते। चंचलता का यही बड़ा स्रोत है। एक प्रश्न आता है कि जब हम इतना जान गए कि चंचलता का स्रोत है आकांक्षा, इच्छा, अतृप्ति—फिर भी उसे बुझा नहीं पाते, यह क्यों? आदमी जान ले, फिर क्यों नहीं बुझा पाए? इसका भी एक कारण है—यह भ्रम है कि आदमी ने जान लिया। वह अभी तक जान नहीं पाया है। इसका कारण है—मिथ्या दृष्टिकोण। हमारा दृष्टिकोण ही कुछ ऐसा बना हुआ है कि जिससे प्यास बुझती है, उससे दूर भागते हैं और जिससे प्यास भभकती है उसे इसीलिए पी रहे हैं कि प्यास बुझ जाए। आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है—

मूढात्मा यत्र विश्वस्तः, ततो नान्यद् भयास्पदम्।

यतो भीतस्ततो नान्यद्, अभयस्थानमात्मनः॥

—'मूढ़ आत्मा जिसमें विश्वास करता है उससे अधिक कोई भयानक वस्तु संसार में नहीं है। मूढ़ आत्मा जिससे डरता है, जिससे दूर भागता है, उससे बढ़कर शरण देने वाली वस्तु संसार में नहीं है।'

खतरनाक वस्तु में विश्वास करना और खतरा मिटाने वाली वस्तु से दूर भागना, यह कब होता है? यह तब होता है जब आत्मा मूढ़ हो, दृष्टिकोण मिथ्या हो, मोह प्रबल हो। जब राग-द्वेष की प्रबलता होती है, कषाय की प्रबलता होती है,

तब ऐसा होता है। जब तक मिथ्यादृष्टि दूर नहीं होगी—तब तक हम यह समझ नहीं पाएंगे।

कर्म-बंध की प्रक्रिया में महावीर से पूछा गया—भंते! कर्म का बंध कैसे होता है? उसकी प्रक्रिया क्या है?

भगवान ने कहा—जब ज्ञानावरण कर्म विशिष्ट उदयावस्था में होता है, तब दर्शनावरण कर्म का उदय होता है। जब जानने पर आवरण आता है, तब देखने पर भी आवरण आ जाता है। जब दर्शन का आवरण होता है, तब दर्शनमोह कर्म का उदय होता है। जब दर्शनमोह का उदय होता है, तब मिथ्यात्व आता है। उसके अस्तित्व में नित्य को अनित्य, सुख को दुख, अनित्य को नित्य और दुख को सुख मानने की बात घटित होती है तब व्यक्ति जो सुख के साधन हैं, उन्हें सुख के साधन तथा जो सुख के साधन हैं, उन्हें दुख के साधन मानने लग जाता है। तब वह प्यास को बुझाने वाले साधनों को प्यास लगाने वाले तथा प्यास लगाने वाले साधनों को प्यास बुझाने वाले साधन मानने लग जाता है। सारी बात उलट जाती है। जब तक यह मिथ्यात्व का बंधन नहीं टूटता, तब तक कर्म का चक्र टूट नहीं सकता। इसे तोड़ा नहीं जा सकता।

मिथ्यादृष्टि के अस्तित्वकाल में, यह जानते हुए भी कि प्यास है और प्यास बुझाने के साधन भी हैं, हम उन्हीं साधनों को ढूँढ़ते हैं, जिनसे प्यास और अधिक बढ़ जाती है। यह इसलिए होता है कि उसकी तह में मिथ्यात्व अवस्थित है। मिथ्या दृष्टिकोण, मति का विपर्यय, बुद्धि का विपर्यास—सत्य को विपरीत ग्रहण करने के लिए बाध्य करता है।

जब तक मिथ्यात्व रहेगा, तब तक आकांक्षाएं रहेंगी, प्यास बनी-की-बनी रहेगी। जब तक प्यास बनी रहेगी, तब तक प्रमाद भी होता रहेगा, भ्रांति होती रहेगी, विस्मृति होती रहेगी। विस्मृति, जैसे—हमने एक बार जान लिया कि धन सुख का साधन नहीं है। यह तथ्य स्मृतिपटल पर अंकित है। किंतु, जैसे ही हम कार्यक्षेत्र में उतरेंगे, कर्मक्षेत्र में प्रवेश करेंगे, तब इस बात को भूल जाएंगे कि धन, संपत्ति, ऐश्वर्य सुख के साधन नहीं हैं। हम यह मानने लग जाएंगे या हमें ऐसा लगने लगेगा कि संसार में कोई सारभूत वस्तु है तो वह धन है, संपत्ति है, ऐश्वर्य है। शेष सब कुछ असार-ही-असार है, व्यर्थ है, मिथ्या है। धन है तो सब कुछ है, धन नहीं है तो कुछ भी नहीं। धन ही सार है, यह सारभूत पदार्थ है। अब प्रश्न होता है कि ऐसा क्यों होता है? इसका समाधान यह है कि हम भूल जाते हैं, विस्मृति हो जाती है, प्रमाद उभर जाता है—इसलिए ऐसा होता है।

जब तक ये चार तत्त्व—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय—अस्तित्व में रहते हैं, तब तक चंचलताओं को रोका नहीं जा सकता। चंचलता के चक्र को धीमा नहीं किया जा सकता। यह चक्र इतनी तेजी से घूमने लगता है कि उसका अनुमान करना भी कठिन हो जाता है। व्यक्ति ध्यान करने के लिए बैठता है तो कभी आकांक्षाओं का ज्वार आता है, कभी प्रमाद का अंधकार छा जाता है, कभी कषाय की आग भभक उठती है और वह ध्यान से भटक जाता है। ध्यान छूट जाता है और वह संकल्प-विकल्प के जाल में फंस जाता है। उस जाल में ऐसी समाधि लगेगी कि वास्तविक समाधि का छोर छूट जाएगा। यह इसलिए होता है कि हम शोधन करते हुए नहीं आ रहे हैं। हमारी वृत्तियों का शोधन नहीं हो पाया है।

साधना की सफलता के लिए हमें इन कर्मशास्त्रीय रहस्यों को समझना अत्यंत आवश्यक हो जाता है। हम मिथ्या दृष्टिकोण को छोड़ें—सम्यक् दृष्टिकोण को अपनाएं, अविरति को छोड़ें और विरति को ग्रहण करें, प्रमाद को छोड़कर अप्रमाद में आएँ और कषाय की आग को शांत कर चलते जाएँ। इतना होने पर चंचलता अपने आप कम होती रहेगी।

लोग पूछते हैं—मन चंचल है, पहले ही क्षण में उसे शांत कैसे करें? ऐसा कोई जादू नहीं है कि पहले ही क्षण में मन शांत हो जाए। मन को शांत करने की एक प्रक्रिया है, उस प्रक्रिया में से गुजरें, मन शांत हो जाएगा। वह प्रक्रिया है—मिथ्या दृष्टिकोण, अविरति, प्रमाद और कषाय को उपशांत करते जाएँ—मन शांत हो जाएगा। इन चारों को क्षीण करते जाएँ, क्षीण करने की साधना करें, एक दिन ऐसा आएगा कि मन शांत हो रहा है, हो गया है—वाणी शांत हो रही है, हो गई है—शरीर शांत हो रहा है, हो गया है। हम इस प्रक्रिया को दृढ़ता से पकड़ें और उसको करते चले जाएँ। उसमें से गुजरें—क्रमशः हम अपने लक्ष्य में सफल होते जाएंगे। हम तात्कालिक लाभ पाने के लिए यह न सोचें कि अभी सब कुछ हो जाए, साधना के पहले क्षण में ही सिद्धि मिल जाए। यह न कभी हुआ है, न होता है और न होगा। हम प्रक्रिया करते चले जाएँ, निराश न बनें।

हम श्वास-प्रेक्षा या शरीर-प्रेक्षा कर रहे हैं, उसका पूरा अर्थ सबकी समझ में आए या न आए, किंतु यह निश्चित है कि हम एक प्रक्रिया में से गुजर रहे हैं और उसके द्वारा उन चारों के चक्रव्यूह को तोड़ने का प्रयास कर रहे हैं। प्रश्न होता है कि हम अनुप्रेक्षा के अभ्यासकाल में भी चिंतन करते हैं—चिंतन करना, प्रेक्षा में मन को इधर से उधर घुमाना—चंचलता को मिटाने का उपाय कैसे हो सकता है?

प्रश्न सही है। हम अनुप्रेक्षा के समय चंचलता को नहीं मिटा रहे हैं, उसके लिए प्रयत्न भी नहीं कर रहे हैं। हम एक प्रकार की चंचलता के सामने दूसरे प्रकार की चंचलता खड़ी कर रहे हैं।

महर्षि पतंजलि ने कहा है—‘वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्।’ एक पक्ष को तोड़ना है तो दूसरे प्रतिपक्ष को पैदा करो। अशुभ को तोड़ना है तो शुभ को पैदा करो। छोड़ना दोनों को है—शुभ को भी छोड़ना है और अशुभ को भी छोड़ना है। पाप को भी छोड़ना है और पुण्य को भी छोड़ना है। किंतु अशुभ को छोड़ने के लिए शुभ का संकल्प करें। बुरे को छोड़ने के लिए अच्छे का संकल्प करें। बुरी आदत छोड़ने के लिए अच्छी आदत डालें। अन्यथा बुरी आदत छूटेगी नहीं। एक बार छूट भी जाएगी तो वह पुनः पकड़ लेगी। हमने

देखा—एक आदमी को तंबाकू सूंघने की आदत थी। दिन में सौ-पचास बार वह तंबाकू सूंघता था। न उसे उस तंबाकू में दुर्गंध ही आती और न उसे उस आदत के प्रति घृणा ही थी। एक दिन उसे यह बात समझ में आ गई और उसने उस आदत को छोड़ने का संकल्प कर लिया। अब वह तंबाकू को सूंघना छोड़, इत्र को सूंघने लगा। इत्र को सूंघना उसकी आदत बन गई और तंबाकू की आदत छूट गई।

बुरी आदत को बदलने के लिए अच्छी आदत डाली जाती है। एक प्रकार की चंचलता को मिटाने के लिए हम दूसरे प्रकार की चंचलता का सहारा ले रहे हैं। पुरानी चंचलता को मिटाने के लिए नई चंचलता को अपना रहे हैं। ऐसा करते-करते एक दिन ऐसा भी आएगा कि सारी चंचलता मिट जाएगी, समाप्त हो जाएगी। ❖

खंडहर का आर्त्तनाद

‘आप जा कहां रहे हैं? रुकिए।’

इन शब्दों को सुनकर आगंतुक ठिठक गया। विस्मय से इधर-उधर देखने लगा। वहां कोई भी तो नहीं था। बस, एक ध्वस्त इमारत खड़ी थी। आगंतुक को किर्कतव्यविमूढ़ देखकर फिर वह स्वर उभरा, ‘मैं तुम्हारे सामने खड़ा हूं और तुम मुझे देख नहीं पा रहे हो! मैं बड़ा ही दर्दनाक इतिहास हूं। मेरे पन्ने खून से भरे हैं। मेरे पन्नों में खंडहर का आर्त्तनाद है।’

इतना कहकर स्वर मौन हो गया, जैसे गला अवरुद्ध हो गया हो। आगंतुक अविचल खड़ा रहा। तभी स्वर फिर गूंजा, ‘कौन जानता था कि इस नगर पर इतना कहर बरपा होगा! सब-कुछ वीरान हो जाएगा! लाखों नर-नारी मौत की गोद में चले जाएंगे! ओफ, इंसान के भीतर कितना विकराल दानव बैठा है! उसने एक ही झपट्टे में सब-कुछ मिट्टी में मिला दिया। न घर छोड़े, न आदमी छोड़े। जो बचे उनकी कराह आज भी सुनाई देती है।’

‘जरा देखो, इंसानियत ने क्या लिखा है—‘अब और हिरोशिमा नहीं।’ पर दूसरी ओर विनाशलीला की तैयारियां हो रही हैं।’

आगंतुक के आगे खंडहर साकार हो गया। उसका आर्त्तनाद उसके हृदय को विदीर्ण करने लगा। उसने आंखें बंद कर लीं, कान मूंद लिए।

थोड़ी देर में आर्त्तनाद को चीरता इतिहास का स्वर फिर गूंजा, ‘आंख-कान बंद करने से कुछ नहीं होगा। आज दानव इसलिए जग रहा है, क्योंकि इंसानियत सो रही है। जिस दिन इंसानियत जाग जाएगी, दानव सो जाएगा। तब इंसान इंसान के दर्द को समझेगा और उसके हाथ में घृणा का नहीं, प्रेम का अस्त्र होगा।’

आगंतुक की आंखें खुल गईं और वह एक नया संकल्प लेकर वहां से चल दिया।

—यशपाल जैन

भारतीय परंपरा में असंग भाव से आसक्तिरहित होकर त्यागपूर्वक भोग करने का आदेश दिया गया है। यहां निष्काम कर्म का अर्थ है, विवेकपूर्वक कर्तव्य कर्म करते हुए प्राप्त फलों का अन्य मानवों के लिए सहर्ष त्याग करते रहना। लोकसंग्रह भाव से अर्थात् ईश से आच्छादित कर्म करने से मनुष्य की कुप्रवृत्तियों का संहार हो जाता है और जो शक्ति उनको तृप्त करने में लगती थी, वह जीव को ऊपर उठाने में लग जाती है। जो अंतःकरण इंद्रियों के पीछे बहिर्मुख दौड़ता था, वही अंतर्मुख होकर आत्मसाक्षात्कार एवं नैतिक विकास का साधन बन जाता है।

भारतीय कर्मवाद —लौकिक का आध्यात्मिक रूपांतरण

सन्तोष आचार्य

कर्म प्रधान विश्व करि राखा।

जो जस करहि, सो तस फल चाखा।।

अर्थात् जगत में जो प्राणी जैसे-जैसे कर्म करता है उसको उसी अनुसार फल प्राप्ति होती है। उपरोक्त पंक्तियां 'जो जैसा करता है वह वैसा ही भरता है' कहावत का अर्थ भी अभिव्यक्त करती हैं। यह कहावत मात्र नहीं, वरन कर्म-सिद्धांत की भावना की ही लौकिक अभिव्यक्ति है। यही कर्म-सिद्धांत वर्तमान समाज में नैतिकता की आधारशिला है, क्योंकि कर्म-सिद्धांत में ही मानव मात्र को यह अहसास होता है कि उसके अतीत व वर्तमान जीवन के शुभाशुभ कर्मों से उसके भविष्य का निर्धारण होता है। अतएव कर्म-सिद्धांत की प्रेरणा से ही मनुष्य अपने उज्ज्वल भविष्य के निर्माण हेतु अपने व दूसरों के प्रति अधिकांशतः शुभ कर्म करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। इस प्रकार कर्मवाद के अनुसार मनुष्य को उसके शुभाशुभ कर्मों का फल अवश्य मिलता है। ऐसा कदापि नहीं हो सकता कि जो किया है, उसका फल न मिले तथा जो नहीं किया उसका फल प्राप्त हो जाए—क्योंकि ऐसा होने पर कृतहानि और अकृताभ्यागम दोष उत्पन्न होता है। ऋग्वेद में इसी व्यवस्था को 'ऋत', मीमांसा में 'अपूर्व' तथा न्याय-वैशेषिक में 'अदृष्ट' कहा जाता है।

कर्म की महत्ता बतलाते हुए श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।

गीता 3/5

अर्थात् कोई भी मनुष्य किसी भी काल में क्षणमात्र भी बिना कर्म किए नहीं रहता, क्योंकि सारा मनुष्य समुदाय प्रकृतिजनित गुणों द्वारा परवश हुआ कर्म करने के लिए बाध्य

किया जाता है।¹ गीता के इस सूत्र से स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए कर्म करना अनिवार्य है। इसी अनिवार्यता पर बल देते हुए डा. राधाकृष्णन् ने कहा है—

'कर्म के उल्लंघन का प्रयत्न ठीक उसी प्रकार निष्क्रिय होगा जिस प्रकार मनुष्य अपनी छाया को लांघ नहीं सकता। अर्थात् जैसे मनुष्य की छाया साथ रहती है, कर्म भी बराबर साथ रहता है।'²

प्रो. हिरियन्ना के अनुसार—

'कर्म-सिद्धांत का आशय यही है कि नैतिक जगत में भी भौतिक जगत की भांति पर्याप्त कारण के बिना कुछ भी घटित नहीं हो सकता। यह समस्त दुख का आदि स्रोत हमारे व्यक्तित्व में ही खोज कर ईश्वर और प्रतिवेशी के प्रति कटुता का निवारण करता है।'³

सनातन परंपरा में कर्मवाद का मूलरूप हमें वेदों में मिलता है। ऋग्वेद में इसे नैतिक संरक्षण का सिद्धांत माना है क्योंकि वहां 'ऋत' के रूप में शांति व सुव्यवस्था का आभास देखा जाता है। 'ऋत' इस जगत में पाई जाने वाली नैतिक व्यवस्था का नाम है।

इस नैतिक व्यवस्था का अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति कर्म करने के लिए स्वतंत्र है। इसी प्रकार अथर्ववेद में व्यक्ति को कर्मशील होने की प्रेरणा दी गई है—

'कर्मशील व्यक्ति ही जीवन का मधु पाता है, वही सुस्वादु फल का आस्वादन करता है। सूर्य की ओर देखो, वह निरंतर कर्मरत रहता है। अतः कर्मशील बनो—'⁴

उपनिषदों को वेदांत कहा जाता है क्योंकि ये वेदों के अंतिम भाग हैं। इसीलिए वेदों से उपनिषद तक के सागर में कर्मवाद की धारणा में आमूलचूल परिवर्तन हो जाता है। वैदिक कर्मवाद ऐसे यज्ञों के संपादन तक ही सीमित था जिनसे इष्टपूर्ति होती है जबकि उपनिषदों में उपलब्ध कर्मवाद की

दृष्टि व्यापक है—यहां यह एक ऐसे नैतिक सिद्धांत के रूप में उभर कर सामने आता है जो न केवल अच्छे-बुरे परिणामों का हेतु है, अपितु पुनर्जन्म का हेतु भी है। यही नहीं, उपनिषदों में वैदिक कर्मवाद को बंधन का कारण मानते हुए इसकी निंदा भी की गई है। अतः उपनिषदों के कर्मवाद को वैदिक कर्मवाद से भिन्न समझना चाहिए। उपनिषदों का कर्मवाद ब्राह्मणकाल में विदित कर्मकांड का भी विरोधी है क्योंकि उस समय यज्ञ के माध्यम से हिंसा तथा परिग्रहवाद पनपने लगा था। 'यज्ञ का अर्थ पवित्र कार्य है। किंतु पाखंडी पुरोहितों ने यज्ञ का अर्थ ही बदल डाला और विधि-विधान से संपन्न यज्ञों को स्वर्ग के द्वार के रूप में सीमित कर दिया।'⁵

इस प्रकार उपनिषदों में कर्मकांड का विरोध स्पष्ट है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि उपनिषदें कर्मवाद की महत्ता को अस्वीकार करती हैं। 'छांदोग्य उपनिषद' के अनुसार मनुष्य को कर्म करना चाहिए क्योंकि पुरुष क्रतुमय है—कर्ममय है। जिस प्रकार का कर्म वह इस लोक में करता है, वैसा ही यहां से चलकर वह आगे होता है। कर्म अवश्य करें।' (छा.उ.3/14/1)। इस प्रकार उपनिषदें कर्म करने का समर्थन करती हैं, उसका विरोध नहीं करतीं। वहां केवल सकाम भाव से किए गए कर्मों का ही विरोध किया गया है क्योंकि वे बंधनकारक व पुनर्जन्म का हेतु होते हैं, अर्थात् निष्काम भाव से किए गए कर्मों की ही शिक्षा उपनिषदें देती हैं। ईशोपनिषद में इस प्रकार कहा गया है—

‘ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंचित् जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥१॥

इस प्रकार ईशावास्योपनिषद के प्रथम श्लोक में ही स्पष्ट कहा गया है कि—

‘इस जगती में जो जगत है वह ईश द्वारा बसा हुआ है। इसलिए त्यागपूर्वक भोग करो, किसी दूसरे के धन की आकांक्षा मत करो।’⁶ अतः उपनिषदों की मुख्य प्रवृत्ति कर्मकांड से भिन्न और उसकी विरोधी है। कुछ उपनिषदों में तो यह विरोध खुले रूप में है। उदाहरणार्थ, मुंडक उपनिषद में यज्ञ कर्म की बिल्कुल खुली आपत्ति की गई है और कहा गया है कि, ‘यज्ञों से श्रेय-लाभ की जो आशा करता है वह मूढ़ है तथा उसे बार-बार जरा-मृत्यु का दुख भोगना पड़ता है।’⁷ इस प्रकार कामना-पूर्ति के लिए किए गए यज्ञ या कर्म बंधनकारक हैं। उपनिषदों में यह स्पष्ट है कि मनुष्य के कर्मों के आधार पर ही उसका भविष्य निर्धारित होता है। छोटे से छोटा कर्म भी चरित्र पर प्रभाव डालता है। इसलिए सदैव सत्कर्म करने का प्रयास करना चाहिए। ‘मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करने वाली जो कुछ प्रवृत्तियां उसके अंदर विद्यमान हैं वे

उसके अपने विवेकानुसार किए गए चुनाव का परिणाम हैं। ज्ञानपूर्वक किए गए कर्म आगे चलकर अनचाहे स्वभाव बन जाते हैं और आज जो हमारी स्वाभाविक प्रवृत्तियां हैं, वे भी पूर्व में ज्ञानपूर्वक किए गए अपने कर्मों का परिणाम हैं।’⁸ अतः संसार में जो विषमता दिखाई देती है, उसका कारण हमारे कर्मजन्य संस्कार ही हैं। गरीबी-अमीरी, सुंदर-कुरूप और तीव्रबुद्धि-मंदबुद्धि आदि प्रत्यय हमारे द्वारा किए गए पूर्व कर्मों का फल ही हैं। इसलिए उपनिषदों की शिक्षा है कि आचरण नैतिक होने के साथ निष्काम भाव से प्रेरित होना चाहिए, क्योंकि इन्हीं कर्म-संस्कारों के अनुसार मनुष्य को भावी जीवन की प्राप्ति होती है। प्रश्नोपनिषद में आत्मा की कर्मानुसार गति बतलाते हुए कहा गया है—‘पुण्यकर्मों से हृदय में बैठा हुआ आत्मा को उदान ‘पुण्यलोक’ में ले जाता है, पाप-कर्म करने से आत्मा को उदान ‘पापलोक’ में ले जाता है, दोनों प्रकार के कर्म करने से आत्मा को उदान ‘मनुष्य लोक’ में ले जाता है।’ (प्रश्न.उप.3/7)। आगे भी स्पष्ट है कि पापलोक, पुण्यलोक, स्वर्ग-नरक आदि सभी स्थानों की प्राप्ति उपनिषदानुसार कर्मों द्वारा होती है, अतः स्पष्ट है कि भूतकाल के कर्मों से मनुष्य का वर्तमान बना है और वर्तमान कर्मों से मनुष्य के भविष्य का निर्धारण होता है, इसलिए उपनिषदों में निष्काम विचार से कर्म करने की प्रेरणा दी गई है। निष्काम का अर्थ निष्क्रियता नहीं है। इसका अर्थ केवल फलासक्ति भाव से विरक्त होकर कर्म करना है।

कर्मों का वर्गीकरण

उपनिषदों में कर्मों के जो विभिन्न प्रकार बताए गए हैं, उनके आधार पर हम कर्मों का वर्गीकरण दो प्रकार से कर सकते हैं—

सकाम कर्म—वे कर्म जो किसी विषय की कामना अर्थात् इष्ट की पूर्ति हेतु किए जाते हैं, सकाम कर्म कहे जाते हैं। ये कर्म ही बंधनकारक होते हैं।

निष्काम कर्म—निष्काम कर्म कामना या आसक्ति को त्यागकर किए जाते हैं अर्थात् आसक्तिरहित कर्म निष्काम कर्म कहे जाते हैं। यदि एकमात्र कामना है तो वह है आत्मसाक्षात्कार की कामना। इस प्रकार के कर्म बंधन में नहीं डालते।

एक दूसरे प्रकार से भारतीय-दर्शन में कर्म निम्न हैं

1. संचित कर्म—अतीतकाल में किए गए कर्म जिनका फल मिलना प्रारंभ नहीं हुआ है।

2. प्रारब्ध कर्म—अतीतकाल में किए गए कर्म जिनका फल मिलना प्रारंभ हो चुका है।

3. क्रियमाण कर्म—वर्तमान में किए गए कर्म जो भविष्य में संचित बन जाते हैं।

वर्तमान भौतिकतावादी युग में मनुष्य से लेकर पशु तक का सोच आसक्ति व कामनाओं से बंधा है। जागृतावस्था में जिन कामनाओं को उसका चेतन मस्तिष्क पूरा नहीं कर पाता उन कामनाओं को स्वप्नावस्था में उसका अचेतन मस्तिष्क पूरा करने की चेष्टा करता है अर्थात् मनुष्य के सोच का हर पहलू आसक्तियुक्त है। निष्काम भाव के नैतिक प्रत्यय उसके जीवन से ओझल हो रहे हैं। हमारी कामना ही हमारे बंधन का कारण है। इसलिए उपनिषदों में कामना को ही समस्त दुखों का कारण बताया गया है, क्योंकि व्यक्ति की कामना कभी पूर्ण नहीं होती है। थोड़ा प्राप्त होने पर अधिक प्राप्त होने की लालसा होती है। एक इच्छा के पूर्ण होने पर दूसरी इच्छा जागृत होती है। यही कारण है कि व्यक्ति की सभी इच्छाएं पूर्ण नहीं हो सकतीं। व्यक्ति इच्छानुसार कर्म करने में स्वतंत्र है पर इच्छानुसार फल-प्राप्ति में नहीं। यदि वह इच्छानुसार फल-प्राप्ति में भी स्वतंत्र हो जाए तो वह अपने लिए सदैव अच्छा या शुभ फल ही प्राप्त करेगा, चाहे उसने अच्छे कर्म किए हों अथवा बुरे। इस प्रकार की स्वतंत्रता से वह पूर्णतया अनैतिक बन जाएगा।

मनुष्य की कामनाएं, उसकी कभी न पूर्ण होने वाली इच्छाएं—उसके नैतिक पथ में बाधक सिद्ध होती हैं। जिस तरह व्यक्ति की कोई इच्छा जब पूरी नहीं होती तो उसमें हिंसा व क्रोध के भाव जागृत होते हैं, जिससे उसको दुख प्राप्त होता है, इसीलिए उपनिषदों में निष्काम कर्म करने का उपदेश दिया गया है। निष्काम कर्म वह है जिसे व्यक्ति अपना नैतिक कर्तव्य समझकर 'प्राप्ति' की इच्छा से रहित होकर करता है।

उपनिषदों में निष्काम कर्म के संबंध में उपरोक्त विचार गीता के द्वितीय अध्याय के निम्न श्लोक से पूर्णतया मेल खाते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोस्वकर्मणि॥४७॥

अर्थात् कर्म करने पर तेरा अधिकार है, फल मिलना या न मिलना कभी भी तेरे अधिकार में नहीं। इसलिए मेरे कर्म का अमुक फल मिले, यह हेतु मन में रखकर काम करने वाला न हो और कर्म न करने का भी तू आग्रह न कर। यही गीता का कर्मयोग है। इस प्रकार उपनिषदों का निष्काम-कर्म का विचार श्रीमद्भगवद्गीता का प्रमुख सिद्धांत बन गया।

निष्काम कर्म के संबंध में ईशोपनिषद का द्वितीय श्लोक मनुष्य को कर्म की प्रेरणा निम्न प्रकार देता है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः।

स्वं त्वयि नान्यथेतोस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥११॥

अर्थात् 'मनुष्य कर्म करे, निष्काम कर्म करे और कर्म करते हुए ही इस संसार में सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। इस प्रकार मनुष्य में कर्म का लेप नहीं होता।' इस सूत्र में मनुष्य को कर्म करने की प्रेरणा दी गई है, लेकिन साथ ही यह भी कहा गया है कि कर्म इस प्रकार करें कि उन कर्मों का लेप नहीं हो। यहां मन में प्रश्न उठता है कि उपनिषदों की यह भावना किस प्रकार संभव है? इसका उत्तर यह होगा कि निस्संग भाव से, निष्काम भाव से कर्म करने पर कर्मों का लेप नहीं होता, जिसे गीता कर्म में अकर्म को देखना अर्थात् कर्म करते हुए भी कर्तापन के अभिमान से युक्त नहीं होना कहती है।

निष्काम से उपनिषदों का तात्पर्य अहंभाव त्याग करके भोग करना है, तभी भोग का सच्चा आनंद मिलेगा। लोग कहते हैं—इस जगत में सुख है अवश्य, परंतु उसे भोगने के लिए दुख सहना पड़ता है—सुख के आसपास ही दुख है, इसलिए मनुष्य 'सुख' भी दुख से भोगता है, यह एक भ्रांत कल्पना है। गीता, जो उपनिषदों का ही सार है, कहती है, 'सुखेन सुखमश्नुते' -सुख से सुख भोगो। वास्तविक सुख भोगने के लिए प्रयत्न करना कुछ बुरा नहीं है, परंतु मनुष्य द्वारा सुख के विषयों को इकट्ठा करने पर स्वामित्व की भावना बढ़ती है और सुख का उपभोग करना एक ओर रह जाता है। मनुष्य में स्वामित्व की प्रवृत्ति या परिग्रह भाव से ही उसमें नैतिकता का हास होने लग जाता है।

इसलिए भारतीय परंपरा में असंग भाव से आसक्ति - रहित होकर त्यागपूर्वक भोग करने का आदेश दिया गया है। यहां निष्काम कर्म का अर्थ है, विवेकपूर्वक कर्तव्य कर्म करते हुए प्राप्त फलों का अन्य मानवों के लिए सहर्ष त्याग करते रहना। लोकसंग्रह भाव से अर्थात् ईश से आच्छादित कर्म करने से मनुष्य की कुप्रवृत्तियों का संहार हो जाता है और जो शक्ति उनको तृप्त करने में लगती थी, वह जीव को ऊपर उठाने में लग जाती है। जो अंतःकरण इंद्रियों के पीछे बहिर्मुख दौड़ता था, वही अंतर्मुख होकर आत्मसाक्षात्कार एवं नैतिक विकास का साधन बन जाता है। ऐसे आत्मोन्मुख व्यक्ति के लिए ही मुण्डक उपनिषद में कहा गया है—

'जिस व्यक्ति के लिए कामनाएं पर्याप्त हो चुकी हैं, अर्थात् पूर्ण हो चुकी हैं, उस कृतकृत्य पुरुष की तों सभी कामनाएं इस लोक में लीन हो जाती हैं।' (मुण्डक उप. 3/2/2) और 'जो अकाम है, निष्काम है, आप्तकाम है (अर्थात्

जिसकी कामनाएं आत्मा में लीन हो गई हैं) आत्मकाम है (अर्थात् अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान ही जिसकी एकमात्र कामना है) उसके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता, वह ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।' (वृह. उप. 4/4/6)। अर्थात् जिस समय मनुष्य की समस्त कामनाएं छूट जाती हैं उस समय 'वह मर्त्य (मरणधर्मा) अमर हो जाता है।' (कठ. उप. 2/3/14)।

आत्मा का कर्म से क्या संबंध है, इस पर उपनिषदों में गहनता से विचार किया गया है। उपनिषदों में मूल रूप से आत्मा को अकर्ता व अभोक्ता माना गया है। आत्मा का यह कर्तृत्व और भोक्तृत्व तो प्रकृति के गुणों के साथ उसके संयोग से उत्पन्न होता है। आत्मा अकर्ता होते हुए भी अहंभाव से प्रकृति की क्रियाओं का स्वयं को कर्ता मान लेता है। गीता में भी आत्मा को मूल रूप से अकर्ता ही स्वीकार किया गया है—श्री कृष्ण कहते हैं कि 'जो पुरुष संपूर्ण कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति के द्वारा ही किए जाते हुए देखता है और आत्मा को अकर्ता देखता है, वही यथार्थ देखता है।' (गीता 13/29)। स्पष्ट है कि उपनिषदों और गीता दोनों में आत्मा को यथार्थ रूप से अकर्ता मानते हुए जीव रूप में ही उसे कर्ता स्वीकार किया है और जो कर्ता है, कर्म सिद्धांत के अनुसार उसके लिए फलभोग भी आवश्यक है। इसी कारण जीवात्मा को निष्काम करते हुए जीना चाहिए जिससे जीवात्मा मुक्त होकर अपने यथार्थ स्वरूप को प्राप्त कर सकेगी।

इस प्रकार मूल रूप में अकर्ता होते हुए भी अज्ञानवश जीवात्मा कर्म करता है, इसलिए कर्ता है और किए हुए कर्म-फलों को भोगता है इसलिए भोक्ता है। जीवात्मा को कर्म-फलों का भोक्ता स्वीकारते हुए कठोपनिषद में कहा है—'जब आत्मा, इंद्रियां तथा मन मिलकर कोई काम करते हैं, तब मनुष्य भोक्ता कहलाता है।' (कठ. उप. 1/3/4)। मुण्डकोपनिषद में कर्म-आत्मा को वृक्ष और दो पक्षियों की सुंदर कल्पना द्वारा स्पष्ट करते हुए जीवात्मा को कर्म-फलों का भोक्ता बताया है, जीवात्मा तथा परमात्मा को, सुंदर पंखों वाले पक्षी बताकर कहा है कि उनमें से एक अर्थात् जीवात्मा तो वृक्षरूपी कर्मफल का स्वादपूर्वक भोग करता है और दूसरा अर्थात् परमात्मा भोग न करता हुआ साक्षी रूप में दोनों (जीव-प्रकृति) को देख रहा है। प्रकृतिरूपी वृक्ष जो दोनों के लिए समान है, उसमें अर्थात् उसके फलों में जीवात्मा तो अज्ञानवश असामर्थ्य भाव से डूब जाता है, लीन हो जाता है, अर्थात् वह सांसारिक विषयों के भोग में फंसा रहता है। वह शोकाकुल हो जाता है। जब वह दूसरे ईश को अर्थात् समर्थ स्वतंत्र, परमात्मा को देखता है अर्थात् उसकी महिमा को जान लेता है तब वह शोकरहित हो जाता है। (मुण्डक उप. 3/1/12)।

उपरोक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि वह दूसरा पक्षी या ईश समस्त कर्मफलों को साक्षीरूप से देखता रहता है, अतः उपनिषदों में ईश या ब्रह्म को ही कर्म का नियंता स्वीकार किया गया है, उसे ही कर्मफलदाता माना है। यहां यह स्पष्ट करना प्रासंगिक होगा कि भारतीय दर्शन-चिंतन परंपरा में कर्मों का फल किस तरह प्राप्त होता है, इस संदर्भ में दो मतों की मान्यता है—एक ईश्वरवादी मत, जो कहता है कि ईश्वर वह शक्ति है जो प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्म के अनुसार फल प्रदान करती है। इसके विपरीत निरीश्वरवादी मत ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते, उनके अनुसार प्रत्येक कर्म से एक शक्ति उत्पन्न होती है जो किसी भी तरह खत्म नहीं होती। इस कर्मजन्य शक्ति के कारण प्रत्येक को अपने कर्म का फल भोगना ही पड़ता है। यह मीमांसा का मत है। उपनिषदीय मत ईश्वरवादी है क्योंकि उपनिषदों में सगुण ब्रह्म या ईश्वर को न सिर्फ कर्मफलदाता माना, उसे समस्त कर्मों का अध्यक्ष माना है। उपनिषदों में कर्म को कहीं ब्रह्म की कला, कहीं ब्रह्म के विकास की अंतिम सीमा, अन्न द्वारा उत्पन्न उसका अंश बताया गया है और इन सबसे बढ़कर कर्म को स्वयं ब्रह्म में निहित और उसी के द्वारा बताया गया है। 'पुरुष रूप ब्रह्म की, जो इसी मनुष्य शरीर में विद्यमान है, सोलह कलाएं बताई गई हैं। कला का अर्थ है अंश। ब्रह्म की अगर एक पुरुष के रूप में कल्पना की जाए तो उसके सोलह अंश हैं। इन सोलह कलाओं में से एक कला 'कर्म' है। इस प्रकार ब्रह्म की कला के रूप में कर्म भी ब्रह्म या ईश्वर का एक अंश है। ब्रह्म का अपने सभी अंशों पर पूर्ण नियंत्रण है। इस प्रकार कर्म भी स्वतः कुछ नहीं कर सकता। उसे प्रेरणा देने वाला ईश्वर है। इससे स्पष्ट है कि दैहिक और ऐंद्रिक सभी क्रियाओं का नियंता ब्रह्म/ईश्वर ही है।

इसका तात्पर्य यही है कि मनुष्य के मन में बंधनकारक जो कर्तव्य-भाव है, वह निराधार है। यह कहा जाता है कि मनुष्य को कर्तव्य के अभिमान से रहित होकर कर्म करने चाहिए क्योंकि वस्तुतः उसमें जो कर्तव्य-शक्ति है, वही ईश्वर प्रदत्त है। इसी कारण उपनिषदों में अपने सभी कर्मफलों को ईशार्पित करने का आदेश दिया गया है।

गीता के समान ही पाश्चात्य नीतिशास्त्री कांट का भी यही मत है कि मनुष्य को कर्मों के परिणामों की चिंता किए बिना केवल अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए, क्योंकि कर्तव्य-पालन के विचार से प्रेरित कर्म का ही नैतिक मूल्य है अर्थात् कांट के मतानुसार जब मनुष्य केवल कर्तव्य के लिए अपने कर्तव्य का पालन करता है और इसमें किसी भी अन्य उद्देश्य की पूर्ति की इच्छा नहीं करता तभी उसका कर्म वास्तव

में नैतिक दृष्टि से शुभ माना जा सकता है। इसी प्रकार अन्य भारतीय दर्शन-संप्रदायों में भी कर्म-सिद्धांत की व्याख्या हुई है, जिनमें जैन व बौद्ध मुख्य हैं। बौद्ध दर्शन के महत्वपूर्ण ग्रंथ 'अभिधर्मकोश' में प्रस्तुत कर्म-सिद्धांत बौद्ध-दर्शन के कर्म-स्वरूप के संबंध में प्रतिनिधि प्रतीत होता है। बौद्धों के अनुसार कर्म मूलतः चित्त का धर्म होता है। अन्य कर्म चेतना द्वारा संपन्न होते हैं। अतः बौद्धों ने जैन दर्शन की तरह कर्मों को जड़ या पौद्गलिक नहीं माना।

बौद्धों ने कर्म के मुख्यतः दो भेद स्वीकृत किए हैं—
1. चेतना और चेतनाकृत। चेतना मानस-कर्म है और चेतनाकृत काय-कर्म और वाक्-कर्म। 'लोकों की विचित्रता का कारण कर्म ही माना गया है।'⁹

वाक्-कर्म और काय-कर्म के पुनः दो-दो भेद हैं—विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति। विज्ञप्ति से तात्पर्य है, जो चित्त की अभिव्यक्ति को ज्ञापित करे। अतः काय-विज्ञप्ति का अर्थ शरीर संस्थान (स्थान) है। वाग्विज्ञप्ति का अर्थ वाग्ध्वनि है। इस प्रकार कर्म के पांच भेद¹⁰ हो जाते हैं—

1. विज्ञप्तिकाय-कर्म 2. अविज्ञप्तिकाय-कर्म
3. विज्ञप्तिवाक्-कर्म 4. अविज्ञप्तिवाक्-कर्म
5. चेतना

इनमें अविज्ञप्तिकर्म के कुशल और अकुशल दो भेद होते हैं तथा विज्ञप्ति और चेतना-कर्म के तीन भेद—कुशल, अकुशल तथा अव्याकृत। इन कर्मों को फल की दृष्टि से क्रमशः पुण्य, अपुण्य और आनिज्य-कर्म कहा जाता है। 'क्षेप-कर्म कुशल कहा जाता है, जिसका इष्टविपाक होता है या जो निर्वाण का प्रापक है, इसके विपरीत अक्षेप-कर्म अकुशल कहा जाता है, क्योंकि उसका विपाक अनिष्ट होता है। इन दोनों से भिन्न अव्याकृत कहा जाता है क्योंकि इसका विपाक नहीं होता। इसी प्रकार सुखवेध को शुभ, दुखवेध को अशुभ और अदुखासुखवेध को आनिज्य कहते हैं।'¹¹

बौद्ध विचार की तरह जैन दर्शन में भी कर्म-सिद्धांत पर विस्तृत विवेचन हुआ है। जैन दर्शन में कर्म वह है, 'जिसके कारण साधन तुल्य होने पर भी फल का तारतम्य अथवा अंतर मानव जगत में दृष्टिगत होता है। इस तारतम्य या विविधता के कारण का नाम ही कर्म है।'¹² जैन दर्शन में कर्म के दो भेद हैं—1. घातीय 2. अघातीय

1. घातीय कर्म निम्न चार हैं—

1. ज्ञानावरणीय—जो ज्ञान का आच्छादन करते हैं।
2. दर्शनावरणीय—जो प्रेक्षणक्रिया को आवृत करते हैं।

3. मोहनीय—जो भ्रम उत्पन्न करते हैं।

4. अंतराय—जो बाधाएं या विघ्न उत्पन्न करते हैं।

2. अघातीय कर्म भी निम्न चार हैं—

1. वेदनीय—जो सुख-दुखादि का कारण बनते हैं।
2. नामकर्म—जो शरीर के पोषण का कारण होते हैं।
3. गोत्रकर्म—जो जीव का उच्च या निम्न कुल में जन्म निर्धारण करते हैं।
4. आयुष्यकर्म—जो जीव की आयु निर्धारित करते हैं।

जैनों ने कर्म को पौद्गलिक माना है। ये कर्म ही जीव के बंधन के कारण हैं। जब सूक्ष्म कर्म-पुद्गलों का आत्मा पर आरोप होता है तो जीव का बंधन होता है, अतः सभी कर्मों का नाश होने से ही जीव को मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। मुक्ति के लिए कर्मों का नाश अत्यावश्यक है। मुक्ति के भी दो रूप हैं। जब घातीय कर्मों का नाश होता है तब भावमोक्ष, जब अघातीय कर्मों का नाश होता है तो द्रव्यमोक्ष। इस प्रकार जैन दर्शन में भी उपनिषदों की तरह अप्रत्यक्ष रूप से जीवनमुक्ति व विदेहमुक्ति की धारणा है। जो उपनिषदों में जीवनमुक्ति है वही जैन विचारणा में भावमोक्ष है तथा जो उपनिषदों में विदेह मुक्ति है उसे जैनों में विचार द्रव्यमोक्ष कहते हैं। इसके साथ ही जैन दर्शन भी उपनिषदों की तरह अप्रत्यक्ष रूप से निष्काम कर्म पर बल देता है, क्योंकि भावमोक्ष के लिए घातीय कर्मों का अंत होना जरूरी है और घातीय कर्मों का कारण योग व कषाय प्रवृत्तियां हैं। इनके निरुद्ध हो जाने पर भावमोक्ष होता है, अतः कहा जा सकता है कि जैन दर्शन भी कामनारहित कर्म करने पर बल देता है। हमें प्रारंभ से ही ऐसे कर्म करने चाहिए कि कषाय (क्रोध, लोभ, मान, माया) व भोग प्रवृत्तियों का निर्माण न हो और ऐसा केवल कामना-विरक्त होकर कर्म करने से ही हो सकता है। इस प्रकार जैन, बौद्ध व अन्य भारतीय दार्शनिक संप्रदाय निष्काम भाव से कर्म करने पर ही बल देते हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भारतीय परंपरा में मनुष्य के लिए कर्म की अनिवार्यता का प्रतिपादन करते हुए उसे कर्मशील रहने की प्रेरणा दी गई है। साथ ही उसे आसक्तिरहित होकर कर्म करने की बात कही है, जो मनुष्य के स्वातंत्र्य-बोध और उसके नैतिकबोध को समंजस कर देती है और उसे आध्यात्मिक विकास की आधारशिला प्रदान करती है। यह बौद्ध और जैन जैसे अन्य वेदेतर दार्शनिक संप्रदायों द्वारा भी समर्थित है। जो कर्म आसक्तिरहित होकर किए जाते हैं, वे ज्ञान-प्राप्ति में सहायक होते हैं जिनसे मनुष्य

को सर्वोच्च भाव की प्राप्ति हो जाती है—वह मनुष्य जो आत्मरूप से स्वतंत्र है।

संदर्भ

1. राधाकृष्णन् सर्वेपल्लि, भगवद्गीता, 1962, पृ. 136
2. राधाकृष्णन् सर्वेपल्लि, भारतीय दर्शन, भाग-1, 1966, पृ. 200
3. राधाकृष्णन् सर्वेपल्लि, भारतीय दर्शन की रूपरेखा
4. अथर्व 12/1/54
5. वर्मा, वेदप्रकाश—भारतीय नैतिक दर्शन, 1982, पृ. 337
6. शास्त्री, विष्णुकान्त—ज्ञान और कर्म, 1998, पृ. 38
7. सिद्धांतालंकार, सत्यव्रत—एकादशोपनिषद्, 1996, पृ. 162
8. राधाकृष्णन् सर्वेपल्लि, भारतीय दर्शन, भाग-1, 1966, पृ. 247
9. अभिधर्मकोश, 4/1
10. शास्त्री, शुक्रदेव—भारतीय नीति दर्शन, 1997, पृ. 61
11. 'क्षेमाक्षेमतरत् कर्म कुशलाकुशलेत्। पुण्यापुण्यमनिञ्जं च सुखवेधादि च त्रयम्। सुखं वेध शुभं ध्यानादातृतीयादतः परम्। अदुःखासुखवेधं तु दुःखवेधमिहवयमशुभम्।' अभि.कोश. 4/45, 49
12. देवराज, एन.के.—भारतीय दर्शन, 1975, पृ. 115 ❖

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के विचार-प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों-कविताओं का स्वागत है

•
प्रकाशित-प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा

•
अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ-साफ टाइप की हुई भेजें
हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

•
लिखावट साफ-सुथरी, बिना काट-छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

•
जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

•
सम-सामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

•
महिलाओं, किशोरों और बाल-मन पर आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

•
आप चाहें तो कहानी-कविता भी भेज सकते हैं

•
अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में पत्र-व्यवहार करना संभव नहीं होगा

•
बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति रचनाकार पहले से ही अपने पास रखें

प्रत्येक घटना का कारण तो होता ही है, परंतु किसी घटना के कारण को न समझने पर हम उसे भाग्य का फेर अथवा संयोग-परिणाम मानने लगते हैं; परंतु इस नामकरण का अर्थ परिणाम से दुखी होने और कारण खोज निकालने में अपने बुद्धि-प्रयोग की असफलता स्वीकार करने के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

कर्म-विधान

चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य

शरीर एक उपकरण, सुंदर उपकरण, जादू भरा उपकरण है, जिसके साथ उसका स्वामी आत्मा, विलक्षण रीति से अभिन्न हो जाता है। उसी प्रकार आत्मा भी परमात्मा का उपकरण है। परमात्मा उसके अंदर निवास करता है और उसका उपयोग करता है—किस हेतु से और क्यों, सो हम न जान सकते हैं और न कह सकते हैं। यह एक रहस्यमय संबंध है, जिसमें उपकरण और उसका उपयोगकर्ता दोनों अविलग रूप से आबद्ध हैं। शरीर और उसकी सूक्ष्म इंद्रियों को अपने स्वामी आत्मा के प्रति निष्ठाहीन नहीं होना चाहिए, वरन् अच्छे उपकरणों के रूप में उसके काम आना चाहिए। इसी भांति, व्यक्ति को भी परमात्मा का, जो उसके अंतः में निवास करता है, अच्छा और विश्वस्त उपकरण बनना चाहिए और प्रत्येक कर्म, विचार और वाणी उसे समर्पित करनी चाहिए।

कर्म शरीर, वाणी और मन से किए जाते हैं। प्रत्येक कर्म का नियत परिणाम होता है। कारण-कार्य-विधान अपरिवर्तनीय है। परिणाम कारण में वैसे ही निहित रहता है, जैसे बीज में वृक्ष। पानी को सूर्य सुखा देता है। यह अन्यथा नहीं हो सकता। उष्णता और पानी के मिलने से परिणाम होगा ही। यही बात सबके साथ है। परिणाम कारण के गर्भ में रहता है। यदि हम गंभीरता से विचार करें, तो संपूर्ण जगत अपने विविध अंगों में कर्म के अपरिवर्तनीय नियमों के अनुसार विकसित होता दिखलाई पड़ेगा। वेदांत में कर्म के इसी सिद्धांत का निरूपण किया गया है। कर्म पर भाग्यवाद की दृष्टि से विचार करना गलत है। वेदांत में भाग्य का जैसा विवेचन किया गया है, उसके अनुसार, उसमें कर्म-त्याग और प्राकृतिक नियमों पर श्रद्धा का भंग निहित नहीं है। कर्म पूर्वकारणों का परिणाम है, वह परिणाम का अटल नियम है। पश्चिम के मूर्तिपूजामूलक दर्शनशास्त्रों से जिस भाग्यवाद का उदय हुआ है, उसमें और वेदांत में यही अंतर है।

जब कोई हिंदू भाग्य-लेख की बात करता है, तो उसका अर्थ यह होता है कि मनुष्य को केवल अपने कर्मों के फल की अपेक्षा करनी चाहिए। कोई कर्म व्यर्थ या परिणामहीन नहीं हो सकता। कर्म करना और उसके परिणाम से बच जाना, या

किसी ऐसे परिणाम की आशा करना जो किसी दूसरे कर्म से हो सकता है, संभव नहीं है। निश्चित कर्मों का उनके अनुरूप परिणाम होना अनिवार्य है। इस प्रकार, कर्म के विधान से सच्चा कर्म-स्वातंत्र्य उत्पन्न होता है।

हम मन, वाणी और शरीर से कर्म करते हैं। हमारे विचार, वाणी और कर्म—सब अपना-अपना फल देते हैं। उनके फल से बचा नहीं जा सकता।

जब कोई वेदांती कहता है कि प्रत्येक घटना कर्म के अनुसार होती है तो उसका अर्थ यह नहीं होता कि ज्ञान और मानवीय प्रयत्न व्यर्थ हैं और मानवीय कर्मों का कोई महत्त्व नहीं है। कहा है—‘हां, मैं मानता हूं कि यह विधि है। यह न्याय की विधि है कि अज्ञानी को आनंद प्राप्त नहीं होता। यह न्याय की विधि है कि आरोग्य के नियमों की उपेक्षा करने से रोगों की यातनाएं सहनी पड़ती हैं।’ उद्योग और आचार का पुरस्कार मिलेगा ही और कर्म-विधान रूपी अधिकार-पत्र इस पुरस्कार को सुरक्षित रखता है।

प्रत्येक घटना का कारण तो होता ही है, परंतु किसी घटना के कारण को न समझने पर हम उसे भाग्य का फेर अथवा संयोग-परिणाम मानने लगते हैं; परंतु इस नामकरण का अर्थ परिणाम से दुखी होने और कारण खोज निकालने में अपने बुद्धि-प्रयोग की असफलता स्वीकार करने के अतिरिक्त कुछ नहीं है। भाग्य के लिए साधारणतः उपयोग में आने वाले शब्द ‘अदृष्ट’ का अर्थ, जो दिखलाई नहीं पड़ता, होता है। वास्तव में, उसके बारे में इतना ही बस है। उसका यह अर्थ नहीं होता कि वह नियम के अधीन नहीं है, वह केवल पहले देखा नहीं गया।

हम किसी सिद्धांत की सहायता के बिना भी समझ सकते हैं कि प्रत्येक अच्छे या बुरे विचार अथवा कर्म का हमारे ऊपर तुरंत परिणाम होता है। यह परिणाम दूसरों पर अथवा बाह्य जगत पर होने वाले परिणाम के अतिरिक्त होता है। कोई चाहे या न चाहे, उसके मन की प्रत्येक वृत्ति उसके चरित्र पर अमिट छाप डाल देती है और उसके चरित्र का विकास उसी के अनुसार अच्छा या बुरा होता है। यदि मैं आज बुरा विचार करूं तो कल अधिक तत्परता और आग्रह से वैसा

करूंगा। यही बात अच्छे विचारों के बारे में भी है। यदि मैं आत्म-निग्रह करता हूँ या शांत होने का प्रयत्न करता हूँ तो अगली बार यह क्रिया अधिक स्वयंस्फूर्त, अधिक सरल, हो जाएगी, यह क्रम उत्तरोत्तर प्रगतिपूर्वक जारी रहता है।

हिंदू विचारधारा के अनुसार, इस जीवन में मनुष्य के विचारों, कार्यों और पश्चात्ताप से उसका जो चरित्र बन जाता है वह शरीर का अंत होने पर आत्मा के साथ संलग्न रहता है और उसकी दूसरी जीवन-यात्रा में आरंभ से ही उसका साथी होता है। पूर्वजन्मों के कर्म, विचार और आसक्तियों के फल-स्वरूप हम कुछ निश्चित स्वाभाविक वृत्तियों के साथ नया जन्म ग्रहण करते हैं। भूत और भविष्य के जीवों के और अनेक जीवनों में विकास का क्रम जारी रहने के सिद्धांत पर विश्वास ही कर्म के संबंध में भ्रम उत्पन्न करने वाला है।

बुद्धिवादी दृष्टिकोण से, कार्य के संबंध में कोई स्पष्टीकरण अथवा उपपत्ति कठिनाइयों या आपत्तियों के परे नहीं हो सकती; परंतु अमर आत्मा को व्यक्तित्व का आधार मानने पर हिंदू कर्म-सिद्धांत की अपेक्षा प्रकृति के नियमों के अधिक अनुकूल कोई अन्य उपपत्ति स्थापित नहीं की जा सकती। मनुष्य ठीक अपने कर्मों के अनुसार ही अपना विकास करता है। विकास का क्रम मृत्यु से भंग नहीं होता, वह दूसरे जीवन में जारी रहता है। हिंदू धर्म का यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धांत शक्तिसंचय-नियम के नैतिक क्षेत्र में कार्यान्वित है। वास्तव में इन दोनों को एक ही नियम के दो अंग मानना चाहिए। कर्म आध्यात्मिक जगत में संचय का नियम है। कारण और कार्य समान होना ही चाहिए। मृत्यु से शरीर का, न कि आत्मा का, अंत होता है। अतएव, जहां तक आत्मा का संबंध है, कारण और कार्य का नियम शरीर का अंत हो जाने के बाद भी कार्यान्वित रहता है। शरीर की मृत्यु से मनुष्य दिवालिया नहीं बनता। पुराना हिसाब आगे के जीवन में जारी रहता है।

छोटे से छोटा कंकड़ फेंकने से भी पानी में लहर उठ आती है। वह लहर गोल-गोल घेरों में बराबर फैलती जाती है। हमारे सब विचारों और कार्यों का भी ऐसा ही परिणाम होता है। मन में उत्पन्न हुआ अत्यंत सूक्ष्म और गुह्य विचार भी विश्वशांति को प्रक्षुब्ध कर देता है और उस क्षोभ को शांत करना आवश्यक होता है।

मनुष्य जिस प्रकार अपना जीवन व्यतीत करता है, उसके अनुसार उसके पूर्वकर्मों के बंधन घटते या बढ़ते हैं; परंतु आत्मा स्वाभाविक वृत्तियों पर विजय पाने और मुक्ति के लिए प्रयत्न करने में समर्थ है।

‘मन! विजय निश्चित है, मिथ्या भय को त्याग दे। भक्ति अवश्य फल देगी। हमारे कंधे किसी भी काम के लिए सुविशाल और सुपुष्ट हैं। हमारी बुद्धि उचित इच्छापूर्ति के साधन निर्मित और एकत्र करने में समर्थ है। अपरिवर्तनीय नियम अपना काम करता ही है। इसलिए, तू मिथ्या भय को त्याग दे!’

आधुनिक तमिल कवि ने वेदांत में प्रतिपादित मोक्षमार्ग के संबंध में उपर्युक्त आशय का अनुपम गीत गाया है। नियम मोक्ष को सुरक्षित करता है, न कि उससे वंचित करता है।

मोक्ष जीवात्मा द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार है। वह किसी दूसरे लोक अथवा स्थान में पहुंचना नहीं है। इस ज्ञान से मन के प्रकाशित हो जाने पर कि जीवात्मा और अंतर्निवासी परमात्मा एक ही हैं, छाया प्रकाश में विलीन हो जाती है। यही मोक्ष है। समस्त भेदभाव को मिटाना और यह पहचानना ही मोक्ष है कि हमारे आसपास का सब कुछ परमात्मा का अधिष्ठान है। संस्कृत में ‘मोक्ष’ शब्द का अर्थ केवल छुटकारा है। मोक्ष एक अवस्था है। वह कोई स्थान, भवन, उद्यान अथवा लोक नहीं है। इसलिए तमिल संत ने गाया है :

‘सत्य-पथ की यात्रा करने से परिशुद्ध हो जाने पर, इंद्रियों को अंतर्मुख करके चित्त को असीम ब्रह्म के ध्यान में लीन कर देने पर, सब सुख और दुख छिन्न हो जाते हैं, और आसक्ति नष्ट हो जाती है। यही स्वर्ग है। यही स्वर्ग का आनंद है।’

‘ज्ञान प्राप्त करके, सब आसक्तियां त्यागकर, यदि कोई निश्चित होकर सम-चित्त बन जाता है, तो वही मुक्ति है। वही परमानंद है।’

इसे न जानकर संसार अज्ञानपूर्वक पूछता है—

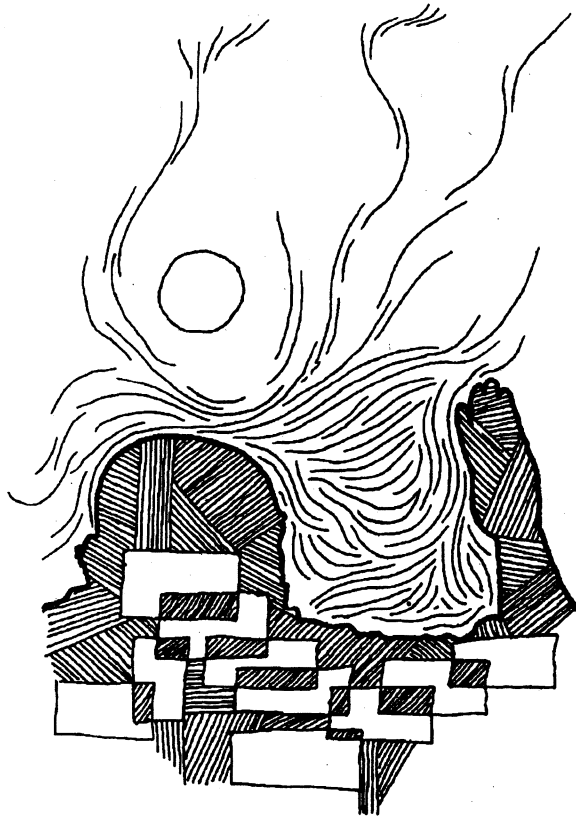
‘स्वर्ग कहां है? स्वर्ग कहां है? परमानंद कैसा होता है?’ और, अपने-आपको अनंत भ्रांति में खो देता है।

शरीर, आत्मा और परमात्मा का पारस्परिक संबंध बताने की पद्धतियों में भेद है। परमात्मा हमारी समझ में नहीं आता, इसलिए हमारे महान आचार्यों ने निरूपण की अनेक पद्धतियों का अवलंबन किया है। नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं।

आत्मा शरीर को जीवित शरीर का गुण प्रदान करता है। परमात्मा जीवात्मा को दिव्य तेज देता है। जीवात्मा शरीर में प्राणों का पोषण करता है। परमात्मा जीवात्मा के दैवी स्वभाव का पोषण करता है। जिस प्रकार इस मर्त्य जीवन में

शेष पृष्ठ 27 पर

અનુભૂતિ



‘और आप? आपने कभी युनिवर्सिटी में सोचा था, फिलासफी छोड़कर सेब का बगीचा लगाएंगे?’

‘क्यों सेब अच्छे नहीं लगते? जिसने पहली बार सेब खाया था, ज्ञान उसे ही मिला था...सारी फिलासफी क्या वहीं से शुरू नहीं होती?’

अगर वह हंसे थे, तो अंधेरे में हंसी दिखाई नहीं दी, लेकिन आवाज वही थी, जिसे मैं युनिवर्सिटी के काफी हाउस में सुना करता था...एक रूखी-सी विनोदप्रियता में ठंकी हुई उदास उतनी नहीं, जितनी उदासीन, दुनिया की लालसाओं के बीच अपने को अलग रखती हुई...

‘अगर ज्ञान ऐसे आता है, तो यहां रह क्यों नहीं जाते?’ मैंने कहा।

‘मैं तुम्हारी तरह अकेला नहीं हूं, न पत्नी, न बच्चे...हर सुख का मूल्य चुकाना पड़ता है!’

‘आप किस सुख की बात कर रहे हैं?’

‘परिवार का सुख, दुनिया में रहने का सुख...आदमी क्या सारी मार-काट इन सुखों के लिए नहीं करता?’

‘जिसे आप ज्ञान कहते हैं, वह भी क्या इसी मार-काट के भीतर से नहीं आता?’

‘जब आता है, तब तक बहुत देर हो चुकी होती है...तब आदमी उसके काबिल नहीं रहता! वह अपने चिमटे से सुख नहीं, उसकी राख उठाने आता है...’

मैंने गिलास से सिर उठाया। क्या वह अपनी बात कर रहे थे? या हम सबकी? लेकिन इससे क्या कोई फर्क पड़ता था कि राख किसकी है? कहां से आकर किस पर ‘बैठ जाती है?’

—निर्मल वर्मा

दिशाबोध विज्ञान नहीं करा जाएगा, चाहे वह फिजिक्स हो, न्यूक्लियर फिजिक्स हो, केमेस्ट्री हो या टेक्नालॉजी हो। दिशा है एक दूसरे विज्ञान के पास, जिसको इस सनातन देश में अपने पूर्वजों ने—अध्यात्म के नाम से पुकारा है। अध्यात्म जीवन का विज्ञान है। इसके पास इतनी क्षमता है कि मनुष्य-जाति को दिशाबोध कराए। सह-अस्तित्व में से उठाकर सह-जीवन की क्षमता प्रदान करे। विज्ञान और अध्यात्म दोनों के समन्वय में से नया जीवन-दर्शन खड़ा होगा, नए आधार मिलेंगे, सामाजिक जीवन के लिए, वैश्विक मानवीय परिवार के लिए। तब कहीं अहिंसक समाज-रचना हो सकेगी।

अहिंसक समाज रचना की चुनौतियां

✍ विमला ठकार

देश की और दुनिया की आज की गंभीर परिस्थिति क्या है, और क्या हैं जागतिक समस्याएं? भय के बादल मानव-क्षितिज पर मंडरा रहे हैं। संहार किसी भी क्षण हो सकता है, ऐसा एक अनिश्चितता का वातावरण विश्व भर में फैला हुआ है। चाहे लेबनान-इसराइल, भारत-पाकिस्तान, ईरान-इराक, लैटिन अमरीका के देश हों, साउथ-ईस्ट एशिया के देश हों—क्यों इतना यह हिंसा का बवंडर है, हिंसक शक्ति का तूफान है? यह आंधी मानवीय समाज के आस-पास ही तो मंडरा रही है।

मुझे लगता है कि जिस संस्कृति और सभ्यता का विकास पिछले कुछ हजार वर्षों में मानव-जाति ने किया है, उसमें मानव-जाति का व्यवहार कुछ छिन्न-विच्छिन्न व्यक्तित्व जैसा रहा। एकरसता मानवजाति में विकसित नहीं हो पाई। एक तरफ अभीप्सा शांति की, प्यास प्रेम की, जीवन के चरम सत्य के खोज की और दूसरी तरफ उपासना और उपयोग हिंसा के आधार पर खड़ी हुई समाज-रचना, अर्थतंत्र और राज्यतंत्रों की। यह जो एक विरोध हमारी सभ्यता और संस्कृति में अंतर्निहित रहा है, उसका परिणाम है कि आज विश्व के क्षितिज पर हिंसा के बादल मंडरा रहे हैं। जबकि विज्ञान और यंत्र-विज्ञान ने इतनी संपन्न शक्तियां और ऊर्जाएं उपलब्ध कर दी हैं, जिनके विनियोग से संपूर्ण मानवीय कुटुंब, भूख से मुक्त हो सकता है। परस्पर सहयोग के सुखमय सपने को साकार करने की सब सुविधाएं आज मनुष्यजाति के पास उपलब्ध हैं। फिर भी हिंसा के आधार पर, परस्पर शोषण के आधार पर, स्पर्धामूलक आक्रमणों के आधार पर आज की जो व्यवस्थाएं खड़ी हैं, क्या उनका केवल निषेध करने से, उनके दोष-दर्शन करने से, उनके प्रति रोष व्यक्त करने से निस्तार का रास्ता निकल जाएगा?

मुझे लगता है कि ये जो निषेध के, खंडन के, रोष प्रकट करने के रास्ते हैं, उनका पर्व अब बीत चुका है। अब

वैकल्पिक समाज-रचना करनी होगी—जो हिंसा पर नहीं, अहिंसा की शक्ति पर खड़ी होगी। वैकल्पिक अर्थ-व्यवस्था और अर्थतंत्र लाना होगा, जिनमें मानवीय संबंधों के नए आधार होंगे। परस्पर शोषण का अवकाश देने वाली व्यवस्थाएं नहीं होंगी। संपन्न और विपन्न, विकसित और अविकसित देशों के बीच संबंध परस्पर शोषण के नहीं होंगे। वैकल्पिक अर्थ-व्यवस्थाएं केवल वैचारिक दृष्टि से सामने नहीं रखनी हैं, बल्कि उनके अभिनव प्रयोग करने होंगे—जगह-जगह, हर राष्ट्र में।

एक तीसरा सवाल है—संसार के सभी देशों में, चाहे वे देश तथाकथित लोकतंत्रवादी हों, तथाकथित समाजवादी हों, या जिन देशों में तानाशाही हो। एक समस्या यह है कि राज्य के पास जो सत्ता होती है, जो शक्ति होती है, उसके द्वारा ही जनता का, व्यक्तियों का शोषण हुआ करता है। शस्त्रास्त्रों के द्वारा होने वाला, धनशक्ति के द्वारा होने वाला शोषण हमारे ध्यान में आता है। लेकिन और भी एक-दो प्रकार के शोषण हैं, जो हिंसा की तरफ मनुष्य को खींचकर ले जाते हैं। ऐसी शोषणमूलक व्यवस्थाओं का परिवर्तन ही सत्याग्रह का आशय मैं समझी हूं और यही सर्वोदय जीवन-दर्शन का रहस्य है, ऐसा मुझे प्रतीत होता है। तो राज्य और व्यक्ति का क्या होगा? राज्य-शक्ति या राज्य-सत्ता, जो राजनीति शक्ति को केंद्रित करती है, उत्तरोत्तर उसका केंद्रीकरण होता चला जा रहा है। जिस केंद्रीकरण में हमारी वर्तमान व्यवस्थाएं और आर्थिक तंत्र मदद करते हैं, शस्त्रास्त्रों का केंद्रीकरण भी जिसमें सहयोग देता है, ऐसा राज्य-शक्ति का केंद्रीकरण मुट्ठीभर लोगों के हाथों में चला गया है और जाने वाला है, संसार के प्रायः सभी देशों में। क्या उसका कोई विकल्प है? हमारे दिलों और द्विमागों में बड़ी दृढ़ धारणाएं हैं, मान्यताएं हैं, उस राज्य-शास्त्र की, जो भारत से बाहर के देशों में प्रचलित है और जिसको भारत ने भी अपना लिया है। राज्यशक्ति के

केंद्रीकरण या लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में भी राजनीतिक पक्षों की अनिवार्यता गृहीत मानी जाती है।

हमारे सामने एक नया अभिनव दर्शन है कि यदि समाज को हिंसा से अहिंसा की तरफ ले जाना है, शोषणमुक्त मानवीय संबंधों की ओर हम आगे बढ़ना चाहते हैं, अपने समाज में 'ए न्यू डायनेमिक्स ऑफ़ ह्यूमन रिलेशनशिप' हम लाना चाहते हैं तो उत्तरोत्तर केंद्रित होती हुई राज्यसत्ता को विकेंद्रीकरण की ओर ले जाएं। लोकनीति, लोकसत्ता को सार्वभौम बनाने की तरफ कदम कैसे आगे बढ़ें—विधायक रीति से, खंडनात्मक रीति से नहीं, उग्र और असभ्य तरीकों से नहीं। सत्य-अहिंसा की बुनियाद पर खड़े होकर, प्रेम और करुणा के आधार पर खड़े होकर लोकनीति के प्रयोग, सार्वभौम अहिंसक समाज-रचना की तरफ ले जाने वाले प्रयोग हमें करने होंगे।

मैं जानती हूँ कि संसार में लोग समझेंगे कि यह कैसी बेतुकी बात है। जैसे गांधीजी ने जब कहा था कि राजनीतिक स्वाधीनता का संग्राम सत्य और अहिंसा के आधार पर लड़ा जा सकता है—तब लोगों को जरूर लगा होगा, विद्वान लोग और राज्यशास्त्र के विशेषज्ञ हंसे होंगे—कि यह कैसी बात है? यह कोई धर्म का क्षेत्र है, अध्यात्म का क्षेत्र है, कोई मंदिर-मठ में बैठना है—जो सत्य और अहिंसा को स्वाधीनता-संग्राम में लाना चाहते हैं। गांधी तो यह भी कहते रहे कि सत्य और अहिंसा छोड़ने से अगर स्वराज्य आएगा तो वह मुझे नहीं चाहिए।

महात्मा गांधी केवल राजनीतिक नेता नहीं थे। येन-केन-प्रकारेण समाज-परिवर्तन लाने के लिए लालायित नेता नहीं थे। वे जीवन-साधक थे। उनकी परमात्मा में अगाध श्रद्धा थी, और परमात्मा का, जीवन की परम सत्ता का उन्होंने जनता के सामने जो स्वरूप रखा, वह कितना लुभावना, कितना सुहावना था। उसके लिए उन्होंने शब्द का प्रयोग किया—'सत्य मेरा ईश्वर है, सत्य मेरी सुरक्षा है, और सत्य ही मेरी व्यूह-रचना है।' गांधीजी के अपने जीवन में, रग-रग में प्रभु-सत्ता में श्रद्धा थी, उसका बल था और यह सत्य भावात्मक नहीं था। सत्य का अर्थ यह था कि जीवन एक है, एकता अखंडित है, एकरसता है। जीवन को खंडों में नहीं बांटा जा सकता, उसके टुकड़े नहीं बनाए जा सकते कि यह राजनीति और राज्यशास्त्र है, इसलिए आचार-संहिता अलग बनेगी, उसका मूल्यांकन अलग बनेगा, इसके स्थापित मूल्य और उसके परिणाम की अग्रिमताएं अलग बनेंगी। यह अर्थतंत्र और आर्थिक जीवन है, इनके मूल्यांकन, इनके मूल्य की आचार-संहिता अलग होगी और यह धार्मिक जीवन है तो

और मूल्यांकन होंगे। जीवन की एकता को तोड़ना, छिन्न-भिन्न करना पाप है, जीवन के प्रति अपराध है।

जिस सत्य की या जीवनविभू की व्याख्या गांधीजी और विनोबाजी ने की थी, उसी को अपनी मिठास भरी वाणी में जयप्रकाशजी भी रखते थे। उनसे किसी ने पूछा, 'आपकी धर्म की व्याख्या क्या है?' उन्होंने कहा, 'अपने-पराए का भेद जिस चित्त में से मिट जाता है, वह चित्त धार्मिक है, ऐसा मैं मानता हूँ।' 'सत्य, प्रेम, करुणा' या 'अपने-पराए में भेद न रहे—ऐसी चित्त की दशा'—इन तीनों व्याख्याओं में हमें एक ठोस आधार मिलता है। हमारे सामने तब सार आता है कि जीवन अखंड एकता है। इसी अखंड एकता के मूल्य के आधार पर जब समाज-रचनाएं, औद्योगिक व्यवस्थाएं, अर्थतंत्र और शासन की व्यवस्थाएं होंगी और अलग-अलग मूल्य नहीं रहेंगे, परस्पर विरोधी मूल्य नहीं होंगे, परस्पर काटने वाले मूल्य नहीं होंगे—तब अहिंसक समाज-रचना का मार्ग प्रशस्त होगा। संपत्ति, परिग्रह, मुनाफाखोरी—यह अर्थनीति और अर्थतंत्र के नाम पर मूल्य बन जाएं, एक-दूसरे का विरोध करना, वर्गों में मनुष्य जाति को बांटना, वर्ग-विग्रह और वर्ग-विद्वेष, वर्ग-संघर्ष की बात करने से वह नहीं होगा—जो हम चाहते हैं।

एक नया मनोविज्ञान हमें गांधीजी और विनोबाजी के द्वारा मिला। मानवीय चेतना की उत्क्रांति में इनका मौलिक योगदान है। समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया को उन्होंने सुसभ्य बना दिया। क्रोध, द्वेष, तिरस्कार, आक्रमणशीलता और स्पर्धा की जगह सत्य को, प्रेम को, करुणा को, सख्यशीलता को, सहयोग के प्रेरक तत्वों को प्रतिष्ठापित करने का उन्होंने पुरुषार्थ किया, केवल प्रचार नहीं, प्रयोग हुए हैं।

यह युग—विज्ञान और यंत्र-विज्ञान का है। 'फिजिकल एण्ड नेचुरल साइन्सेस एण्ड टेक्नालॉजी', 'न्यूक्लियर टेक्नालॉजी', ने कितनी ही सिद्धियां, कितनी ही उपलब्धियां मनुष्यजाति को प्रदान की हैं। इनकी ओर पीठ फेर कर मनुष्यजाति जी नहीं पाएगी। न वह इष्ट होगा, न वांछनीय होगा। लेकिन विज्ञान और यंत्र-विज्ञान की अनेकानेक उपलब्धियों के बावजूद, सिद्धियों के बावजूद, अशांति बढ़ रही है। सिद्धियों ने मनुष्यजाति को चांद पर पहुंचा दिया, मंगल तक पहुंचा रही है, भौगोलिक अंतर लगभग नष्ट हो गया, काल सिमट रहा है, पर विज्ञान और यंत्र-विज्ञान की इन उपलब्धियों के बावजूद आज सामुदायिक सर्वनाश के किनारे पर आकर मनुष्यजाति खड़ी है, क्योंकि इस विज्ञान के पास मनुष्यजाति को देने के लिए दिशा नहीं है।

दिशाबोध विज्ञान नहीं करा जाएगा, चाहे वह फिजिक्स हो, न्यूक्लियर फिजिक्स हो, केमेस्ट्री हो या टेक्नालॉजी हो। दिशा है एक दूसरे विज्ञान के पास, जिसको इस सनातन देश में अपने पूर्वजों ने—अध्यात्म के नाम से पुकारा है। अध्यात्म जीवन का विज्ञान है। इसके पास इतनी क्षमता है कि मनुष्य-जाति को दिशाबोध कराए। सह-अस्तित्व में से उठाकर सह-जीवन की क्षमता प्रदान करे। विज्ञान और अध्यात्म दोनों के समन्वय में से नया जीवन-दर्शन खड़ा होगा, नए आधार मिलेंगे, सामाजिक जीवन के लिए, वैश्विक मानवीय परिवार के लिए, तब कहीं अहिंसक समाज-रचना हो सकेगी।

यह जो अध्यात्म और जीवन-विज्ञान है, वह देश की मिट्टी के कण-कण में पड़ा है। हम उसको गलत न समझें। अध्यात्म एक चीज है और संगठित धर्म दूसरी चीज है। संगठित धर्मों के दिन लद चुके हैं, अब अध्यात्म का युग आ रहा है। संगठित धर्मों की विध्वंस-शक्ति ने मनुष्यों को जोड़ने के बदले 'एक्सक्लूसिव लॉयलटीज' की भावना पैदा करके तोड़ दिया है। कहीं राष्ट्रीय एकता को तोड़ दिया है, मानवीय चेतना को तोड़ दिया है। धर्म-भावना से और धार्मिक मान्यता और धारणाओं से, त्रस्त और ग्रस्त देश को अब पुरुषार्थ करना होगा कि परस्पर एक-दूसरे से अलग करने वाली, एक-दूसरे में भय-अविश्वास पैदा करने वाली जो धारणाएं, मान्यताएं हैं, उन से हम अपना छुटकारा कर लें।

आज केवल एक ही संदर्भ शेष है, जिसको जागतिक संदर्भ कहा जा सकता है। अलग-अलग देशों की अनंत समस्याएं होंगी और भारत में भी वह है। लेकिन अब जीवन का संदर्भ जागतिक हो गया है। हिंसा के आधार पर खड़ी हुई समाज-रचना में से शांति की अभीप्सा, समता, बंधुता, स्वाधीनता की आकांक्षा की पूर्ति नहीं हो सकती। यदि

समता, बंधुता और स्वाधीनता की आकांक्षा है, यदि प्राणों में प्यास है—सत्य प्रेम की या मानवीय मूल्यों की, तो हमें अहिंसक समाज-रचना के वैकल्पिक प्रयोग संसार भर में करने होंगे। हिंसामुक्ति केवल चित्त की नहीं, जीवन की कैसे होगी यह देखना होगा।

हिंसामुक्ति साधने वाले हजारों लोग शायद हर देश में पड़े होंगे और अपने-अपने घरों में, मंदिरों में, गिरजाघरों में, मस्जिदों में, बौद्ध विहार में, जीवन-यापन भी करते होंगे, लेकिन वैसी हिंसामुक्ति से काम नहीं बनेगा। केवल कायिक और मानसिक नहीं, हमारे सहजीवन के प्रत्येक क्षण में से हिंसा का निराकरण हो; इसके प्रयोग करने होंगे। हिंसामुक्ति की पहली चुनौती के रूप में हिंसामुक्त सहजीवन के लिए हमें ऐसे मानवीय संबंध ढूंढ़ने पड़ेंगे जिनमें परस्पर शोषण न हो। इसलिए हिंसामुक्त और शोषणरहित जीवन-व्यवस्थाओं की युक्ति दूसरी चुनौती के रूप में हमारे सामने खड़ी है।

इसी तरह संगठित धर्म, उसकी मान्यताएं, धारणाएं, संस्थागत धर्म, उसके साथ जकड़ा हुआ मानस और उसके कारण आने वाले परस्पर भय, अविश्वास को हटाकर शुद्ध अध्यात्म के आधार पर एकता, सख्य और सहयोग को जीवन में दाखिल करने जैसे सवाल भी हमारे सामने हैं।

हम भाग्यवान हैं कि हमारी सृजनशील शक्तियों को खोद-खोदकर, कुरेद-कुरेदकर, भीतर से निकलने वाली चुनौतियां हमारे सामने खड़ी हैं। असामान्य हम लोगों में से उठ गए हैं और इस देश में शेष रहे हैं—आप और हम सामान्य व्यक्ति। कितना बड़ा सौभाग्य है कि अमावस की रात उतर आई है क्षितिज पर, जहां जुगनुओं को अपना पराक्रम करना है और अपने प्रकाश में आगे बढ़ना है। ❖

कर्म-विधान पृष्ठ 22 का शेष

शरीर और आत्मा एक सुखमय साम्राज्य में रह सकते हैं, ठीक उसी प्रकार यदि जीवात्मा परमात्मा के सुखमय साम्राज्य में रहे और उसमें कोई अपूर्णता, अज्ञान अथवा अन्यमनस्कता न हो, तो यही मोक्ष है। परमात्मा का यह साम्राज्य प्राप्त करने के लिए जीवन की पवित्रता तथा आत्मसंयम आवश्यक है।

इसे हम दूसरी दृष्टि से भी समझ सकते हैं। जीवात्मा परमात्मा की छाया-मात्र है। अज्ञान छाया का और इस धारणा का कारण है कि छाया अपने आपको उत्पन्न करने वाले से भिन्न है। पार्थक्य का यह भाव कामना, आसक्ति, क्रोध और द्वेष से उत्तरोत्तर बढ़ता है। मन के जागृत होने पर

दोनों एक-दूसरे में मिल जाते हैं।

सूर्य जल पर चमकता है। जब जल में लहरें उठती हैं तो हमें उसमें अनेक छोटे-छोटे सूर्य दिखलाई पड़ते हैं। जीवात्मा जल में सूर्य के प्रतिबिंबों के समान है। जल न हो तो प्रतिबिंब भी न होंगे। इसी प्रकार अज्ञान के मिटने पर जीवात्मा परमात्मा के साथ एक हो जाता है। अज्ञान मिटाने और ज्ञान प्राप्त करने के लिए पवित्रता, आत्म-निग्रह, भक्ति और विवेक की आवश्यकता होती है।

जिस तरह रात्रि को सो जाने पर पांचों इंद्रियां आत्मा में विलुप्त हो जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञानयुक्त आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाती है। ❖

कल का क्या भरोसा

आचार्यश्री तुलसी

संसार में हिंसा बढ़ रही है, असत्य बढ़ रहा है, यह एक समस्या है। इससे भी बड़ी समस्या है—अहिंसा और सत्य से विश्वास का उठना। मनुष्य हिंसा करता है। उसमें उसे विवशता का अनुभव हो तो वह उसे कभी छोड़ भी सकता है। किंतु जो व्यक्ति यह मान कर बैठ जाए कि अहिंसा, सत्य आदि के सहारे जीवन चल ही नहीं सकता—वह हिंसा से उपरत कैसे होगा ?

जीवन के दो छोर हैं—जन्म और मृत्यु। जो जन्म लेता है उसकी मौत अवश्यभावी है। मौत के दो प्रकार हैं—सोपक्रम और निरुपक्रम। सोपक्रम का अर्थ है—उपक्रम यानी निमित्त से होने वाली मौत। निमित्तों के द्वारा आयुष्य कर्म की उदीरणा होती है और प्राणी असमय में चला जाता है। निरुपक्रम आयुष्य वाले प्राणियों को मृत्यु के निमित्त नहीं मिलते—यह बात नहीं है, पर उनकी मौत उन निमित्तों से नहीं होती। निमित्तों के कारण होने वाली मृत्यु को अकाल मृत्यु भी कहा जाता है। प्राचीन काल में अकाल मृत्यु की संभावना कम रहती थी। आज की परिस्थितियों में मृत्यु का भय बराबर बना रहता है। खाने का असंयम मृत्यु को सीधा आमंत्रण है। नशा करने से आयुष्य कम होता है। तनाव प्राणशक्ति को क्षीण करता है। दुर्घटनाओं का तो कोई छोर ही दिखाई नहीं देता। ‘णाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि’—मौत आने के अनेक रास्ते हैं। वह प्राणी को कहीं भी दबोच लेती है। जो जीते हैं, वे भी उसके नाम से आशंकित रहते हैं।

मौत की सघन संभावनाओं के बीच कोई भी प्राणी निश्चित नहीं रह सकता। मौत से निश्चित कौन हो सकता है ? इस संदर्भ में शास्त्रकार कहते हैं—

जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वत्थि पलायणं।

जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सिया।।

—जिसकी मौत के साथ मैत्री हो, जो मौत के आने पर भागने की क्षमता रखता हो और जिसको यह पक्का विश्वास हो कि वह मरेगा नहीं, ऐसा व्यक्ति सोच सकता है कि मैं अमुक काम कल कर लूंगा। अन्यथा एक क्षण के लिए भी मौत का भरोसा नहीं किया जा सकता।

मौत पर विजय का उत्सव

धर्मराज युधिष्ठिर अपनी मंत्रिपरिषद के साथ विचार-विमर्श कर रहा था। उस समय एक याचक वहां आया। उसने याचना की। युधिष्ठिर बोला—‘आज मैं बहुत व्यस्त हूं। तुम कल आना। कल मैं तुम्हारी इच्छा की पूर्ति कर दूंगा।’ याचक

लौट गया। युधिष्ठिर का छोटा भाई भीम वहीं बैठा था। वह उठा, उसने नगाड़े बजवाए और उत्सव की घोषणा कर दी।

युधिष्ठिर ने घोषणा सुनी। उसने पूछा—‘नगाड़े क्यों बज रहे हैं?’ राजपुरुष ने निवेदन किया—‘कल एक बड़े उत्सव का आयोजन किया जाएगा।’ ‘कौन-सा उत्सव? कैसा उत्सव? उत्सव की घोषणा किसके आदेश से हुई?’ युधिष्ठिर के इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए राजपुरुष ने कहा—‘महाराज! उत्सव क्यों होगा और कैसे होगा? हम नहीं जानते। आपके अनुज भीम के आदेश से यह घोषणा हुई है।’

युधिष्ठिर ने भीम को बुलाया और पूछा—‘यह किस उत्सव की सूचना है?’ भीम बोला—‘भैया! आपने काल पर विजय प्राप्त कर ली, यह क्या कम उत्सव की बात है?’ युधिष्ठिर कुछ समझा नहीं। उसने स्पष्टीकरण मांगा। भीम बोला—‘यह बात प्रसिद्ध है कि धर्मराज युधिष्ठिर कभी झूठ नहीं बोलते। आपने उस याचक से कहा कि आप उसकी आवश्यकता की पूर्ति कल करेंगे। इसका अर्थ यह हुआ कि आप कल तक निश्चित रूप से जीवित रहेंगे।’ भीम के इस तर्क ने युधिष्ठिर को अपनी भूल का अहसास करा दिया। उसने अविलंब याचक को अपने पास बुलाया और उसे यथेच्छ संपदा देकर विदा किया।

खजाना साथ कैसे जाएगा

जीवन शाश्वत नहीं है, इस बात को हर मनुष्य जानता है। वह यह भी जानता है कि मौत के बाद कुछ भी साथ नहीं जाता। मनुष्य का सुकृत या दुष्कृत ही उसके साथ जाता है। धन, वैभव, परिवार सब यहीं छूट जाता है। फिर भी मनुष्य संग्रह करता है, आसक्त रहता है, यह उसका अज्ञान है। संतों का सान्निध्य प्राप्त हो तो अज्ञान दूर हो सकता है।

गुरु नानक एक संभ्रांत व्यक्ति के घर में ठहरे। उन्होंने देखा—उसके पास धन की कमी नहीं है। फिर भी वह अधिकाधिक धन बटोरने में संलग्न है। उसको सीख देने के लिए उन्होंने एक उपाय सोचा। वह व्यक्ति उनके पास

आया। वे बोले—‘तुम मेरा एक काम कर सकते हो क्या?’ संभ्रांत व्यक्ति बोला—‘मुझे आपका काम करने में प्रसन्नता होगी। आदेश दें, मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ?’

गुरु नानक ने धागे सहित एक सुई निकाली। उसे उस व्यक्ति को सौंपते हुए कहा—‘मेरी यह सुई अपने पास रख लो। जब मैं देह त्याग करूँ तो इसे अगले जन्म में मेरे पास पहुंचा देना।’ संभ्रांत व्यक्ति यह बात सुन आश्चर्य से नानक की ओर देखने लगा। नानक आगे कुछ नहीं बोले। उसने कहा—‘सुई अगले जन्म में आपके साथ कैसे जा सकती है?’ नानक बोले—‘मेरी यह छोटी-सी सुई नहीं जा सकती तो तुम्हारा इतना बड़ा खजाना कैसे जाएगा?’ उस व्यक्ति को बोध पाठ मिल गया।

मृत्यु का दर्शन बचाता है अपराध से

दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं—पाप से डरने वाले और निर्भय होकर पाप करने वाले। जिन व्यक्तियों के मन में पाप का भय रहता है, वे अनर्थ हिंसा से बचने का प्रयास करते हैं। जो लोग इस बात को नहीं समझते कि पाप पापी का अनुगमन करता है, मृत्यु के बाद भी वह फल दिए बिना पीछा नहीं छोड़ता, वे निःसंकोच पापकर्मी का संचय करते रहते हैं।

आतंकवाद या उग्रवाद की समस्या बहुत जटिल हो रही है। यह किसी एक देश की समस्या नहीं है। पूरे विश्व पर इसका प्रभाव है। हत्या, अपहरण और लाखों-करोड़ों रुपये वसूलने की जो वारदातें हो रही हैं, क्या आतंकवादियों को इनका दुष्परिणाम भोगना नहीं पड़ेगा? यह बात उनको कौन समझाए? कुछ लोग सोचते हैं कि उनकी मांगें पूरी कर दी जाएं। यह भी कोई समाधान का रास्ता है? आज जो मांगें हैं, उनकी पूर्ति होने के बाद—नई मांगें सामने नहीं आएंगी? इसकी गारंटी कौन लेता है? किस-किसकी मांगें पूरी हुई हैं? सब लोगों की सब मांगें पूरी हो जाएं, यह संभव ही नहीं है।

आतंकवाद जैसे बड़े-बड़े अपराधों में सम्मिलित लोग मृत्यु का दर्शन समझ लें, मृत्यु के बाद भी मनुष्य अपने सुकृत और दुष्कृत का फल भोगते हैं—इस सचाई से उनका साक्षात्कार हो जाए तो उनके चिंतन और कार्यकलापों की दिशा बदल सकती है।

आस्था, संकल्प और सहिष्णुता

संसार में हिंसा बढ़ रही है, असत्य बढ़ रहा है, यह एक समस्या है। इससे भी बड़ी समस्या है—अहिंसा और सत्य से विश्वास का उठना। मनुष्य हिंसा करता है। उसमें उसे विवशता का अनुभव हो तो वह उसे कभी छोड़ भी सकता है। किंतु जो व्यक्ति यह मान कर बैठ जाए कि अहिंसा, सत्य आदि के सहारे जीवन चल ही नहीं सकता—वह हिंसा से उपरत कैसे होगा?

हिंसा पाप है, झूठ बोलना पाप है, आस्थाहीनता महापाप है। अणुव्रत इस महापाप से बचने का रास्ता दिखाता है। यह मनुष्य के मन में आस्था का दीया जलाता है। कुछ लोगों का अभिमत है कि व्यवसाय से निवृत्त होने के बाद अणुव्रती बनना चाहिए। व्रतों का पालन भी हो जाए और कोई कठिनाई भी न आए, यहां भी वणिक्वृत्ति काम कर रही है। सब दांत टूट जाने के बाद सुपारी खाने का त्याग? क्या महत्त्व है इस त्याग का?

जो व्यक्ति हर एक काम करने में सक्षम हो, वह अणुव्रती बने। व्रतों की अनुपालना में उपस्थित कठिनाइयों का मुकाबला करे और अपने आचरण से दूसरों को दिशादर्शन दे। मनुष्य में इतनी क्षमता है कि वह मौत के भय से भी मुक्त रह सकता है। मौत से बड़ी मुसीबत क्या हो सकती है? व्रतों के प्रति आस्था, व्रत-पालन का संकल्प और व्रती जीवन में समागत मुसीबतों को समभाव से सहन करना—ये तीन बातें जीवनगत हो जाएं तो मनुष्य अनेक प्रकार के भयों को पार कर निश्चिंतता का जीवन जी सकता है। ❖

अंतःशुद्धि न दृष्टि से, न श्रुति से और न ज्ञान से ही प्राप्त होती है, शीलव्रत पुरुष भी आध्यात्मिक शुद्धि नहीं दिला सकता; पर इतने से यह न समझना कि ये निरर्थक हैं और इनका त्याग करने से शुद्धि प्राप्त होती है। जब तक सम, विशेष और हीन का भाव बना रहेगा, तब तक शुद्धि दुर्लभ है।

जो तृष्णा के बंधन से नहीं छूटा, उस मनुष्य की शुद्धि न नग्न रहने से, न जटा रखने से, न पंक लपेटने से, न भस्म रमाने से और न विभिन्न आसनों के जगाने से ही होती है।

—वियोगी हरि
‘बुद्धवाणी’ से

प्रकृति के रिश्तों को पहचानें

पांच महाव्रतों में से एक है अपरिग्रह। अपरिग्रह का यह दृष्टिकोण भौतिकवादी युग में भी प्रकृति के साथ श्रद्धा और समतोल का संदेश देता है। भौतिकवादी प्रवृत्ति तो शोषण की ही हो सकती है, पोषण की नहीं, पर अपरिग्रह में संपोषण की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है।

परिमिता पटवा लोढ़ा

भोगवादी संस्कृति को आधुनिक विकास ने अनियंत्रित बढ़ावा दिया है। यही भोगवादी संस्कृति बढ़ते प्रदूषण के संकट की जननी है। भोगवाद की इस संस्कृति में मनुष्य प्रकृति का स्वामी बन गया और यह भूल गया कि यह प्रकृति, यह धरती उसकी मां है, पालनहार है। प्रकृति के साथ मनुष्य का रिश्ता भोग और शोषण का नहीं, बल्कि श्रद्धा और संरक्षण का रहा है। इस दृष्टि से यह मानना चाहिए कि मनुष्य ही पर्यावरण या प्रकृति पर आए संकट के लिए सर्वाधिक जिम्मेदार है। आज केवल नदी, जल, जंगल और पहाड़ ही प्रदूषित नहीं हो रहे, हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक सरोकार भी प्रभावित हो रहे हैं। आखिर प्राकृतिक पर्यावरण ही हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक पर्यावरण का निर्माता है।

संपूर्ण प्राणी जगत में मनुष्य इसीलिए विशिष्ट और अन्य प्राणियों से भिन्न है कि उसमें स्वतंत्र रूप से सोचने-विचारने की क्षमता है। इसी कारण किसी भी कार्य-व्यवहार के लिए वह दूसरों की तुलना में अधिक जिम्मेदार भी है। इस धरती पर विद्यमान प्रत्येक प्राणी, वनस्पति और जीव-जंतु का स्वतंत्र अस्तित्व है और उन्हें जीवन जीने का समान हक है और यह हक उन्हें प्रकृति से सहज मिला है। यदि मनुष्य अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए उनको नष्ट करता है तो यह अक्षम्य है, परंतु आज मनुष्य यही कर रहा है। प्रकृति के समतोल के साथ जो छेड़छाड़ मनुष्य कर रहा है उसी का यह नतीजा है कि प्रदूषण का संकट गहराता जा रहा है। मनुष्य के हाथों पर्यावरण असंतुलित हो रहा है, प्रकृति लुट रही है।

महात्मा गांधी ने कहा था कि यह प्रकृति सब का पेट भर सकती है, पर किसी एक का भी लालच पूरा नहीं कर सकती। प्रकृति ने मनुष्य को दो हाथ देकर यह बात सिद्ध कर दी कि इन दो हाथों से यदि इस संपदा का उपयोग किया जाए तो यह संपदा अखूट है। परंतु अनियंत्रित औद्योगिकीकरण ने

आवश्यकता को 'लालच' में बदल दिया और प्रकृति का बेरहम दोहन होने लगा और इसी से प्रदूषण व पारिस्थितिकी असंतुलन ने जन्म लिया। यंत्रों के सहारे पहुंची खुशहाली आम जन-जन को नसीब नहीं हो सकती। आज दुनिया में 33 प्रतिशत लोग धनी हैं और निर्धन हैं 67% लोग। हम सहज ही अनुमान लगा सकते हैं कि बढ़ते निरंकुश यंत्रीकरण की इस दौड़ में धनी वर्ग लगातार धनवान होता जा रहा है और निर्धन दिनोदिन निर्धन होता चला जाता है। यंत्रों से काम लेना उस स्थिति में तो उचित है जब काम की जरूरत के हिसाब से मानवश्रम उपलब्ध न हो, पर हमारे यहां तो काम के लिए जितने आदमी चाहिए उससे कहीं अधिक बेकार बैठे हैं।

पारंपरिक दृष्टि से विचार करें तो हम पाएंगे कि हमारे भारतवर्ष में श्रम कभी ऊबाऊ नहीं रहा। यह भी मनोरंजन का माध्यम रहा है। ग्रामीण औरतों को खेत में एक साथ काम करते समय, या घरेलू काम करते हुए या फिर मजदूरी करते समय भी गीत-भजन गाते हुए आसानी से देखा-सुना जा सकता है। भारत की अपनी परंपरा भी यही रही है कि भौतिक सुख-वैभव और अध्यात्म में कभी टकराहट नहीं हुई। भगवान महावीर, राजा श्रेणिक, शालीभद्र महाराज आदि राजसी शान-शौकत से सराबोर रहे, पर मोक्ष की प्राप्ति के लिए उन्होंने अध्यात्म को ही चुना, भौतिक साधनों को नहीं। हमारे धर्मों में चरित्र निर्माण के लिए आवश्यकता व लालसा का निग्रह अनिवार्य माना गया है। जैन धर्म में पांच महाव्रतों में से एक है अपरिग्रह। अपरिग्रह का यह दृष्टिकोण भौतिकवादी युग में भी प्रकृति के साथ श्रद्धा और समतोल का संदेश देता है। भौतिकवादी प्रवृत्ति तो शोषण की ही हो सकती है, पोषण की नहीं, पर अपरिग्रह में संपोषण की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है।

भौतिक विकास की धारा ने समाज को छला भी बहुत है। जिस परमाणु ऊर्जा को मानव जाति के लिए वरदान के रूप

में माना गया था, वही आज विनाश का कारण भी बन रही है। परमाणु ऊर्जा से निकलने वाली एल्फा, बीटा और गामा किरणों का जीव-जगत पर पड़ने वाला परिणाम किसी से छिपा नहीं है। सन् 1957 की विंडस्केल रियेक्टर दुर्घटना हो या रूस की चेरनोबिल दुर्घटना, लोग इन्हें भूले ही नहीं हैं। यूनियन कारबाइड की घटना से भोपाल में एक ही काली रात में तीन हजार लोग लील लिए गए। जुलाई 1978 में स्पेन में, जनवरी 1984 में ब्राजील में और नवंबर 1984 में मैक्सिको में हुई इसी तरह की दुर्घटनाओं से हजारों लोग मारे गए। पर फिर भी हम सचेत नहीं हुए हैं।

यह क्यों नहीं समझ पा रहे कि हम प्रकृति पर पूर्ण रूप से निर्भर हैं। प्रकृति अर्थात् मिट्टी, जल और वायु। इसलिए यह आवश्यक है कि इन्हें प्रदूषित करने वाले कारकों को हम समझें और उनसे दूर रहें। मिट्टी में भी जीवंत तत्व हैं और वह अपना पोषण स्वयं कर सकती है। परंतु एक साथ अधिकाधिक उत्पादन पा लेने की लालसा से मिट्टी में रासायनिक उर्वरक मिलाए जाते हैं और धीरे-धीरे मिट्टी के जीवंत तत्व समाप्त हो जाते हैं। रासायनिक उर्वरकों की मदद से पैदा हुए खाद्यान्नों का खाने वालों के जीवन पर भी प्रतिकूल असर पड़ता है।

प्रकृति के पास अपने संतुलन के लिए ऐसा प्राकृतिक चक्र है जिसके द्वारा हर जीव-जंतु की प्रजाति एक-दूसरे के नियंत्रण में सहायक होती है। मिट्टी में जो असंख्य जीवाणु होते हैं, उन पर अन्य जीव-जंतुओं का जीवन निर्भर होता है। इसी प्रकार मृत जानवरों को खाने के लिए गिद्ध, चील, गीदड़ इत्यादि हैं। ये जंगल को स्वच्छ रखने के लिए प्रकृति की ओर से तैनात सफाई-कर्म हैं। चीन ऐसा देश है जहां मनुष्य और जानवरों का मल-मूत्र खाद के रूप में काम में लिया जाता है। चीन में घरों में पाखाना साफ करने का ठेका किसानों द्वारा लिया जाता है और इससे अच्छी उर्वरक जैविक खाद प्राप्त होती है परंतु हमारे यहां आज ये अवशिष्ट मल-मूत्र आदि नदी जल प्रदूषण की एक बड़ी समस्या बने हुए हैं। जबकि समुचित और सार्थक उपायों से इस समस्या से यहां भी बचा जा सकता है, साथ ही खेतों की मिट्टी को रासायनिक खाद से भी बचाया जा सकता है।

मिट्टी के साथ-साथ जल भी प्रदूषण से अछूता नहीं है। जल, जल रहा ही नहीं है। जल है तो जीवन है, जहां जल नहीं

होगा वहां जीवन भी नहीं होगा। जल प्रदूषण के कारण फैलने वाली बीमारियों की विकट समस्या से लेकर, जल के उपयोग में जो विसंगतियां तथाकथित आधुनिक समाज के सामने आई हैं उनसे जल के साथ मनुष्य समाज के एक समय के पवित्र रिश्तों पर प्रश्नचिह्न लग गया है। जो जल कभी पूजनीय था, जिसकी एक-एक बूंद के साथ श्रद्धा का रिश्ता था, वे सब बातें अब बिखर गई हैं। जल के प्रति यदि यही निर्ममता रही तो क्या जल अपने जीवनदाई स्वरूप में रहेगा? और तब क्या जीवन भी रहेगा? वर्षों के पानी को संचित करने की उत्तम परंपरा अब मृतप्रायः है, वहीं कुओं का जलस्तर भी लगातार गिर रहा है और नदी जल में प्रदूषण बढ़ता जा रहा है। कर्नाटक में पॉली फायबर बनाने के कारखाने लगातार तुंगभद्रा को प्रदूषित कर रहे हैं। कर्नाटक के मछुआरे दुखी हैं कि कास्टिक सोडायुक्त फैक्टरी का पानी नदी में मिलाए जाने से मछलियां मर रही हैं। तमिलनाडु के चमड़ा-शोधन कारखानों का गंदा पानी चर्म रोग फैला रहा है। राजस्थान के पाली-बालोतरा के रंगाई-छपाई उद्योग ने वहां के जन-जीवन को बदरंग कर दिया है।

प्रकृति के साथ यह सलूक और उससे होने वाला विनाश हर तरह से मनुष्य का ही किया धरा है। पर मनुष्य को भी समझ लेना चाहिए कि हर काम की एक हद होती है और उस हद को पार करना खतरनाक होता है। किए का बदला भी लेती है प्रकृति और प्रकृति को यह भी बखूबी पता है कि उसे कब और कहां अपने कदम रोकने हैं? प्रकृति की हर बात में, यहां तक कि हिंसा में भी एक सीमा रेखा होती है।

वर्तमान सामाजिक व्यवस्था ने साधन तो दिए हैं पर लक्ष्य नहीं दिए। खास तौर से युवा पीढ़ी तो दुर्भाग्य से पूर्णतः लक्ष्यहीन है। इसके लिए हमें अपने बुनियादी सत्यों की ओर लौटना होगा, जो भौतिकता की दौड़ में पीछे ही रह गए हैं। जैन परंपरा में मन और इंद्रिय-संयम की बातें सांगोपांग कही गई हैं। जब मन और इंद्रियां वश में होंगी तो प्रकृति के साथ श्रद्धा और समर्पण का रिश्ता फिर से स्थापित हो जाएगा। तब यह धरती 'मां' होगी और जल जीवनदाता। यह कार्य मुश्किल अवश्य है पर असंभव नहीं। पर्यावरण-असंतुलन और प्रदूषण का दानव आज जिस प्रकार इस प्रकृति और पारिवेशिकी पर मंडरा रहा है उसमें अब करो या मरो जैसा साहसपूर्ण कदम ही कोई राह दिखा सकता है, कारगर साबित हो सकता है। ❖

कर्म ही मनुष्य का भाग्य बनाता है। कर्म से ही उसका उत्कर्ष होता है। अन्य कोई गुण इतना फलप्रद नहीं होता जितना कर्म। सुंदर आकृति के मनुष्य को कोई लाभ नहीं मिलता, यदि वह कर्मशील न हो और आलसी हो। —भर्तृहरि

आध्यात्मिक आजादी को प्राप्त करने की इच्छा जिसके भीतर प्रस्फुटित हो गई है—उसका आचरण, व्यवहार बदल जाएगा। वह ऐसा आचरण कभी नहीं करेगा जिससे कर्म का बंध हो।

आध्यात्मिक आजादी का हेतु बनता है—संस्कारों का रेचन। संस्कार बांधते हैं, संस्कार ही भटकाते हैं और संस्कार ही नवीन जीवन का सेतु बनते हैं। संस्कारों से मुक्ति ही भवचक्र का विसर्जन है।

आध्यात्मिक आजादी के लिए

समणी अमितप्रज्ञा

स्वतंत्रता हर प्राणी के लिए अभीष्ट है। किसी को भी बंधन प्रिय नहीं। बंधन को दो रूपों में देखा जा सकता है—बाहरी बंधन, आंतरिक बंधन। कोई किसी के अधीन रहना नहीं चाहता, इसीलिए व्यक्ति बाहरी बंधन से भी मुक्ति पाने का प्रयास करता है। बंधन केवल बाहर का ही नहीं होता, भीतर का भी होता है। व्यक्ति के संस्कार, उसका मन, उसके कर्म आदि आंतरिक बंधन के ही विविध रूप हैं। इन बाहरी बंधनों को तोड़ना सहज हो सकता है, लेकिन भीतरी बंधनों को तोड़ने के लिए महान पुरुषार्थ की अपेक्षा होती है। बाहर का बंधन न हो, तब भी व्यक्ति को बांधने के लिए भीतरी बंधन ही पर्याप्त हैं। बंधन जीवन के साथ जुड़ी हुई सचाई है, लेकिन यह शाश्वत नहीं है और न जीव का अपना स्वरूप।

यह सभी समझते हैं कि हर व्यक्ति स्वतंत्रता चाहता है, मुक्ति चाहता है। कोई भी व्यक्ति बंधन नहीं चाहता। आंतरिक बंधनों की शृंखला को तोड़ने के लिए, आध्यात्मिक आजादी प्राप्त करने के लिए कर्म-वलय आवश्यक है। इससे मुक्ति भी अनिवार्यतः पाई जा सकती है। बंधनमुक्ति के लिए विधि और निषेध—इन दो शब्दों का सम्यक् ज्ञान अनिवार्य है। एक कुशल पुरुष, वीतराग पुरुष, जो आचरण करता है वह विधि है। वीतराग के लिए जो अनाचीर्ण है—वह निषेध है। आचारांग सूत्र में कहा गया—‘अणारब्धं च णारभे’ अर्थात् बंधन मुक्ति के इच्छुक व्यक्ति को अनाचीर्ण का आचरण नहीं करना चाहिए। आध्यात्मिक आजादी को प्राप्त करने की इच्छा जिसके भीतर प्रस्फुटित हो गई है—उसका आचरण, व्यवहार बदल जाएगा। वह ऐसा आचरण कभी नहीं करेगा जिससे कर्म का बंध हो।

आध्यात्मिक आजादी का हेतु बनता है—संस्कारों का रेचन। संस्कार बांधते हैं, संस्कार ही भटकाते हैं और संस्कार ही नवीन जीवन का सेतु बनते हैं। संस्कारों से मुक्ति ही भवचक्र का विसर्जन है। सत् आचरण और संस्कारमुक्ति की साधना में रत व्यक्ति अपने अंतःकरण में निम्न प्रश्न चतुष्टयी का सतत विश्लेषण करता है—1. मैं भव्य हूं या अभव्य? 2. मैं सुलभ बोधि हूं या दुर्लभबोधि? 3. मैं

सम्यक्दृष्टि हूं या मिथ्यादृष्टि? 4. मैं व्रती हूं या अव्रती?

भव्य या अभव्य

जिसमें मुक्त होने की, मोक्ष जाने की योग्यता है वह जीव भव्य कहलाता है। जिसमें मुक्त होने की योग्यता नहीं है वह अभव्य कहलाता है। एक ही प्रकार के वातावरण में जीने वाला कोई जीव तो भव्य है और कोई अभव्य। इसके लिए कोई नियम निर्धारित नहीं है, इसका कोई कारण भी नहीं है। चैतन्य-गुण की दृष्टि से प्राणी मात्र समान है, पर चेतना का पूर्णतया विकास सभी प्राणियों में होना संभव नहीं और इसका कोई हेतु भी नहीं। तात्त्विक दृष्टि से विश्लेषण करना चाहें तो इसका समाधान ‘अनादि पारिणामिक भाव’ ही है। जो जीव था, वह जीव है और जीव ही रहेगा, अजीव—अजीव ही रहेगा। ऐसा कभी संभव नहीं कि जीव अजीव में परिणत हो जाए या अजीव जीव के रूप में परिणत हो जाए। यह जीव, अजीव का अपना-अपना अनादि पारिणामिक भाव है। इसी प्रकार भव्य—भव्य ही रहेगा, अभव्य—अभव्य ही रहेगा।

भौतिकता के इस युग में अपने अंतस में यह प्रश्न उठना बहुत महत्वपूर्ण है—‘मैं क्या हूं? भव्य या अभव्य?’ जिज्ञासा की ऐसी स्फुरण ही इस बात की द्योतक है कि मैं अध्यात्म की ओर अग्रसर हूं। भव्य जीव अपने पुरुषार्थ से ही स्वयं या दूसरों से संबुद्ध हो—संख्यात, असंख्यात या अनंत काल में स्वतंत्रता की योग्यता को प्राप्त कर सकता है। किंतु अभव्य किसी भी स्थिति में ग्रंथि का भेदन करने में समर्थ नहीं हो सकता। वह तीर्थंकरों, मुनियों की ऋद्धि-विशेष देखकर प्रव्रजित हो सकता है, देवलोक में भी जा सकता है, पर मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता।

सुलभबोधि या दुर्लभबोधि

अध्यात्म को जीने वाले व्यक्ति का अपने से दूसरा यह प्रश्न होगा कि मैं सुलभबोधि हूं या दुर्लभबोधि? जिसको सम्यक्त्व की उपलब्धि आसानी से होने की संभावना हो वह सुलभबोधि है, और सम्यक्त्व की प्राप्ति कठिनाई से हो वह

दुर्लभबोधि है। हर व्यक्ति का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। उसे बनाए रखने के लिए वह अपने में कुछ विशिष्टताएं, कुछ विलक्षणताएं चाहता है, जिससे उसके व्यक्तित्व में निखार आ सके। आध्यात्मिक व्यक्तित्व आत्मिक उन्नयन के लिए आत्मलीन हो, जीना पसंद करता है। ऐसे व्यक्ति अपने आप से प्रश्न करते हैं कि क्या मुझे सम्यक्त्व की उपलब्धि सहज हो सकती है? स्वयं का आचरण, व्यवहार, पापभीरुता आदि देख उसे लगता है—मैं सुलभबोधि हूँ, दुर्लभबोधि नहीं।

सुलभबोधि हो सम्यक्त्व को एक बार भी सहजता से प्राप्त करने के बाद सांसारिक, दैविक, किसी भी महाशक्ति में यह क्षमता नहीं कि वह उसे मोक्ष की ओर जाने से रोक सके। वह निश्चित ही मोक्ष की ओर जाएगा। आध्यात्मिक स्वतंत्रता प्राप्त करने में सुलभबोधि की अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

सम्यक्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि

आत्म-पहचान के संदर्भ में तीसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है अपने अंतःकरण से यह पूछना कि मैं सम्यक्दृष्टि हूँ या मिथ्यादृष्टि? 'सम्यग् इति प्रशंसार्थः, दर्शनं दृष्टिः, सम्यग् अविपरीता दृष्टिः सम्यग् दृष्टिः।' अर्हंतों द्वारा निरूपित जीव, अजीव, पुण्य, पाप आदि नौ तत्त्वों पर जो अंतःकरण से श्रद्धा करता है, रुचि करता है उसी जीव के सम्यक्त्व होता है। सम्यक् दर्शन से ये तत्त्व सही रूप में दृष्टिगत होते हैं। तात्त्विक दृष्टि से सम्यक् दर्शन की उत्पत्ति का कारण है—दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय, क्षयोपशम अथवा उपशम। निश्चित ही कहा जा सकता है कि सम्यक्त्व आत्मा का एक ऐसा उज्ज्वल, निर्मल परिणाम है जिससे उसे सम्यक् प्रतिपत्ति होती है। एक ऐसा दर्पण है जिसमें वह स्वयं के शुभ भविष्य को देख सकता है। ठीक इसके विपरीत दर्शन मोहनीय कर्म का जब उदय होता है तब जीव तत्त्वों का सम्यक् अवबोध करने में कठिनाई महसूस करता है।

तत्त्वों को यथार्थ रूप से ग्रहण नहीं करने वाली यही दृष्टि मिथ्यादृष्टि है। जैन सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक वस्तु के अनंत धर्म होते हैं—'अनंत धर्मात्मकं वस्तु।' इसलिए सर्व पर्यायों से युक्त वस्तु को ही पूर्ण वस्तु मानने वाला सम्यक्-दृष्टि तथा वस्तु के एक धर्म में अखंड वस्तु की स्वीकृति करने वाला मिथ्यादृष्टि है। मिथ्यादृष्टि और सम्यक्दृष्टि जीवों की भावनाओं में बहुत बड़ा अंतर यही है कि—'मिच्छा दिद्वी जीवो उवइदं पवयणं तु सहइइ।' मिथ्यादृष्टि जीव सर्वज्ञ कथित प्रवचन पर श्रद्धा नहीं करता है। अश्रद्धा के कारण प्रतिक्षण सघन कर्मबंध होता रहता है। परिणामतः वह जीव चार गति रूप जन्म, जरा, मृत्यु वाले संसार में परिभ्रमण करता रहता है, चौरासी के चक्कर में घूमता रहता है। जबकि

'सम्मदिद्वी जीवो उवइदं पवयणं तु सहइइ।' सम्यक् दृष्टि जीव सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए वचनों पर श्रद्धा करता है और यही दुर्लभ श्रद्धा आत्मा को विभावों—राग, द्वेष आदि कर्मबीज, ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मग्रंथियों आदि से हटाकर स्वभाव में रमण करने की अर्हता प्रदान करता है। जो व्यक्ति संसार से विरक्त तथा अध्यात्म में अनुरक्त है, उसकी दृष्टि सम्यक् होती है। आप्त वचन हैं—'समत्तदंसी ण करेति पापं।' सम्यक्त्वदर्शी कभी पाप नहीं करता। हर कदम संभल-संभल कर रखता है। कभी परतंत्रता में, बंधन में नहीं जीता। वह परतंत्रता के कारणभूत आस्रव को ही रोक देता है, इसीलिए मंजिल के निकट पहुंचने में कोई बाधा नहीं।

व्रती या अव्रती

पदार्थों के सेवन का अथवा हिंसा आदि अशुभ कर्मों का नियत या अनियत काल के लिए संकल्पपूर्वक त्याग करना व्रत है। 'संकल्पपूर्वकः सेव्ये नियमोऽशुभकर्मणः। निवृत्तिर्वा व्रतं स्याद्वा प्रवृत्तिः शुभकर्मणि।' त्याग नहीं करना अव्रत है। भगवान महावीर ने दो प्रकार के व्रत बताए हैं—1. श्रावकों के लिए अणुव्रत (आंशिक त्याग), 2. मुनि के लिए महाव्रत (पूर्ण त्याग)।

साधक प्रतिज्ञापूर्वक कुछ व्रतों को, नियमों को स्वीकार करता है। उत्तरोत्तर विशिष्ट गुणों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है। व्रती ही 'इदं कर्तव्यमिदं न कर्तव्यम्' का निर्णय कर अकरणीय से मुक्ति पा सकता है। आजीविका का निरवद्य साधन उपलब्ध न हो तो भी वह 'इंगाल कम्मे', अंगार कर्म, 'वणकम्मे' वन काटने का उद्योग आदि पंद्रह कर्मादान, जो कि महाआरंभ के स्थान हैं, व्रती के लिए अकरणीय हैं। इन्हें न करते हुए वह अपने संसरण को सीमित कर देता है। अनंतकाल तक संसार में नहीं रहता।

निश्चय दृष्टि से व्रत का लक्षण है—अपनी आत्मा से अपनी आत्मा में प्रवृत्ति करना। व्रती होने के लिए एक शर्त है—निःशल्यता—और यही असली आजादी का आध्यात्मिक रास्ता है। क्योंकि व्रती ही यदि शल्ययुक्त होगा तो वह अपने व्रत का सम्यक् निर्वाह नहीं कर पाएगा। व्रती अपने व्रत की रक्षा हेतु, वैराग्य की पुष्टि हेतु संसार के स्वभाव तथा शरीर के धर्म को जानकर ममत्व-मुक्ति के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है। वह संयमरूपी वीर्य से वीर बनकर वीरत्व को भी प्रस्फुटित करता है। फलस्वरूप व्रती का व्रत या तो स्वर्ग का कारण बनता है या फिर अपवर्ग का।

इस प्रकार भव्य, सुलभबोधि, सम्यक्दृष्टि तथा व्रती व्यक्ति ही अपनी इन योग्यताओं से आध्यात्मिक आजादी प्राप्त कर सकता है। ❖

शीतकाल की रजनी, मेघों से भरा आकाश, जिसमें बिजली की दौड़-धूप। मधूलिका का छाजन टपक रहा था, ओढ़ने की कमी थी। वह ठिठुरकर एक कोने में बैठी थी। मधूलिका अपने अभाव को आज बढ़ाकर सोच रही थी। जीवन में सामंजस्य बनाए रखने वाले उपकरण तो अपनी सीमा निर्धारित रखते हैं, परंतु उनकी आवश्यकता और कल्पना भावना के साथ बढ़ती-घटती रहती है। आज बहुत दिनों पर उसे बीती हुई बात स्मरण हुई—दो, नहीं-नहीं तीन वर्ष हुए होंगे, इसी मधूक के नीचे, प्रभात में—तरुण राजकुमार ने क्या कहा था ?

आर्द्र नक्षत्र, आकाश में काले-काले बादलों की घुमड़, जिसमें देव-दुंदुभि का गंभीरघोष। प्राचीर के एक निरभ्र कोने से स्वर्ण-पुरुष झांकने लगा था—देखने लगा महाराज की सवारी। शैलमाला के अंचल में, समतल उर्वरा भूमि से, सौंधी बास उठ रही थी। नगर तोरण से जय-घोष हुआ; भीड़ में गजराज का चामरधारी शूठ उन्नत दिखाई पड़ा। हर्ष और उत्साह का वह समुद्र हिलोरें भरता हुआ आगे बढ़ने लगा।

प्रभात की हेम-किरणों से अनुरंजित नन्हीं-नन्हीं बूंदों का एक झोंका स्वर्णमल्लिका के सामने बरस पड़ा। मंगल-सूचना से जनता ने हर्ष-ध्वनि की।

रथों, हाथियों और अश्वारोहियों की पंक्ति जम गई थी। दर्शकों की भीड़ भी कम न थी। गजराज बैठ गया, सीढ़ियों से महाराज उतरे। सौभाग्यवती और कुमारी सुंदरियों के दो दल, आम्र पल्लवों से सुशोभित मंगल-कलश और फूल, कुमकुम तथा खीलों से भरे थाल लिए, मधुर गान करते हुए आगे बढ़े।

महाराज के मुख पर मधुर मुस्कान थी। पुरोहित-वर्ग ने स्वस्त्ययन किया। स्वर्ण-रंजित हल की मूठ पकड़कर महाराज ने जुते हुए सुंदर पुष्ट बैलों को चलने का संकेत दिया। बाजे बजने लगे। किशोरी कुमारियों ने खीलों और फूलों की वर्षा की।

कौशल का यह उत्सव प्रसिद्ध था। एक दिन के लिए महाराज को कृषक बनना पड़ता—उस दिन इंद्र-पूजन की धूमधाम होती, गोठ होती। नगर-निवासी उस पहाड़ी भूमि में आनंद मनाते। प्रतिवर्ष कृषि का यह महोत्सव उत्साह से संपन्न होता, दूसरे राज्यों से भी युवक राजकुमार इस उत्सव में आकर बड़े चाव से योग देते थे।

मगध का एक राजकुमार अरुण अपने रथ पर बैठा बड़े कौतूहल से यह दृश्य देख रहा था।

बीजों का एक थाल लिए कुमारी मधूलिका महाराज के साथ थी। बीज बोते हुए महाराज जब हाथ बढ़ाते तब मधूलिका उनके सामने थाल कर देती। यह खेत मधूलिका का था, जो इस साल महाराज की खेती के लिए चुना गया था। इसलिए बीज देने का सम्मान मधूलिका ही को मिला। वह कुमारी थी, सुंदरी थी, कौषेय वसन उसके शरीर पर इधर-उधर लहराता हुआ, स्वयं शोभित हो रहा था। वह कभी उसे संभालती और कभी अपने रूखे अलकों को। कृषक-बालिका के शुभ्र भाल पर श्रम-कणों की भी कमी न थी। वे सब बरौनियों में गुंथे जा रहे थे। सम्मान और लज्जा उसके अधरों पर मंद मुस्कराहट के साथ सिहर उठते, किंतु महाराज को बीज देने में उसने शिथिलता न दिखाई। सब लोग महाराज का हल चलाना देख रहे थे—विस्मय से, कौतूहल से! और अरुण देख रहा था, कृषक-कुमारी मधूलिका को। आह, कितना भोला सौंदर्य! कितना सरल चितवन!

उत्सव का प्रधान कृत्य समाप्त हो गया। महाराज ने मधूलिका के खेत का पुरस्कार दिया, थाल में कुछ स्वर्ण-मुद्राएं। वह राजकीय अनुग्रह था। मधूलिका ने थाली सिर से लगा ली, किंतु साथ ही उसमें की स्वर्ण मुद्राओं को महाराज पर न्यौछावर करके बिखेर दिया। मधूलिका की उस समय ऊर्जस्वित मूर्ति लोग आश्चर्य से देखने लगे। महाराज की भृकुटि भी जरा चढ़ी थी कि मधूलिका ने सविनय कहा—

‘देव! यह मेरे पितृ-पितामहों की भूमि है। इसे बेचना अपराध है, इसलिए मूल्य स्वीकार करना मेरी सामर्थ्य के बाहर है।’

महाराज के बोलने के पहले ही वृद्ध मंत्री ने तीखे स्वर से कहा—‘अबोध! क्या बक रही है? राजकीय अनुग्रह का तिरस्कार! तेरी भूमि से चौगुना मूल्य है; फिर कौशल का यह सुनिश्चित राजकीय नियम है। तू आज से राजकीय रक्षण पाने की अधिकारिणी हुई; इस धन से अपने को सुखी बना।’

‘राजकीय रक्षण की अधिकारिणी तो प्रजा है, मंत्रिवर !
...महाराज को भूमि-समर्पण करने में तो मेरा कोई विरोध न
था और न है, किंतु मूल्य स्वीकार करना असंभव है।’
मधूलिका उत्तेजित हो उठी थी।

महाराज के संकेत करने पर मंत्री ने कहा—‘देव !
वाराणसी-युद्ध के अन्यतम वीर सिंहमित्र की यह एकमात्र
कन्या है।’

महाराज चौंक उठे—‘सिंहमित्र की कन्या ! जिसने
मगध के सामने कौशल की लाज रख ली थी, मधूलिका उसी
वीर की कन्या है?’

‘हां, देव !’ सविनय मंत्री ने कहा।

‘इस उत्सव के परंपरागत नियम क्या हैं, मंत्रिवर?’
महाराज ने पूछा।

‘देव, नियम तो बहुत साधारण हैं। किसी भी अच्छी
भूमि को इस उत्सव के लिए चुनकर, नियमानुसार पुरस्कार-
स्वरूप उसका मूल्य दे दिया जाता है। वह भी अत्यंत
अनुग्रहपूर्वक; अर्थात् भूसंपत्ति का चौगुना मूल्य उसे मिलता
है। उस खेती को वही व्यक्ति वर्ष-भर देखता है। वह राजा
का खेत कहा जाता है।’

महाराज को विचार-विमर्श से विश्राम की अत्यंत
आवश्यकता थी। महाराज चुप रहे। जय-घोष के साथ उत्सव
समाप्त हुआ। सब अपने-अपने शिविरों में चले गए। किंतु
मधूलिका को उत्सव में फिर किसी ने न देखा। वह अपने खेत
की सीमा पर, विशाल मधूक वृक्ष के चिकने हरे पत्तों की छाया
में, अनमनी, चुपचाप बैठी रही।

रात्रि का उत्सव अब विश्राम ले रहा था। राजकुमार
अरुण उसमें सम्मिलित नहीं हुआ—वह अपने विश्राम भवन
में जागरण कर रहा था। आंखों में नींद न थी। प्राची में जैसी
गुलाली खिल रही थी, वही रंग उसकी आंखों में था। सामने
देखा तो मुंडेर पर कपोती, एक पैर पर खड़ी, पंख फैलाए
अंगड़ाई ले रही थी। अरुण उठ खड़ा हुआ। द्वार पर
सुसज्जित अश्व था। वह देखते-देखते नगर-तोरण पर जा
पहुंचा। रक्षकगण ऊंच रहे थे। वे अश्व के पैरों के शब्द से
चौंक उठे।

युवक कुमार तीर-सा निकल गया। सिंधु देश का तुरंग
प्रभात के पवन से पुलकित हो रहा था।

धूमता-धूमता अरुण उसी मधूक वृक्ष के नीचे पहुंचा,
जहां मधूलिका अपने हाथ पर सिर धरे हुए, खिन्न निद्रा का
सुख ले रही थी।

अरुण ने देखा, एक छिन्न माधवी लता वृक्ष की शाखा
से च्युत होकर पड़ी है। सुमन मुकुलित थे, भ्रमर निष्पंद ! अरुण
ने अपने अश्व को मौन रहने का संकेत किया, उस सुषमा को
देखने के लिए। तुरंत कोकिल बोल उठी। उसने अरुण से प्रश्न
किया, ‘छिः, कुमारी के सोये हुए सौंदर्य पर दृष्टिपात करने
वाले धृष्ट, तुम कौन?’ मधूलिका की आंखें खुल पड़ीं। उसने
देखा, एक अपरिचित युवक। वह संकोच से उठ बैठी।

‘भद्रे ! तुम्हीं न कल के उत्सव की संचालिका रही हो?’

‘उत्सव ! हां, उत्सव ही तो था।’

‘कल उस सम्मान...’

‘क्यों आपको कल का स्वप्न सता रहा है? भद्र ! आप
क्या मुझे इस अवस्था में संतुष्ट न रहने देंगे?’

‘मेरा हृदय तुम्हारी उस छवि का भक्त बन गया है,
देवि!’

‘मेरे उस अभिनय का—मेरी विडंबना का? आह !
मनुष्य कितना निर्दय है। अपरिचित, क्षमा करो ! जाओ अपने
मार्ग।’

‘सरलता की देवी ! मैं मगध का राजकुमार तुम्हारे
अनुग्रह का प्रार्थी हूँ—मेरे हृदय की भावना अवगुंठन में रहना
नहीं जानती। उसे अपनी...।’

‘राजकुमार ! मैं कृषक-बालिका हूँ। आप नंदनविहारी
और मैं पृथ्वी पर परिश्रम करके जीने वाली। आज मेरी स्नेह
की भूमि पर से मेरा अधिकार छीन लिया गया है। मैं दुख से
विकल हूँ। मेरा उपहास न करो।’

‘मैं कौशल-नरेश से तुम्हारी भूमि तुम्हें दिलवा दूंगा।’

‘नहीं, वह कौशल का राष्ट्रीय नियम है। मैं उसे
बदलना नहीं चाहती, चाहे उससे मुझे कितना ही दुख हो।’

‘तब तुम्हारा रहस्य क्या है?’

‘यह रहस्य मानव-हृदय का है, मेरा नहीं। राजकुमार,
नियमों से यदि मानव-हृदय बाध्य होता, तो आज मगध के
राजकुमार का हृदय किसी राजकुमारी की ओर न खिंचकर,
एक कृषक-बालिका का अपमान करने न आता।’ मधूलिका
उठ खड़ी हुई।

चोट खाकर राजकुमार लौट पड़ा। किशोरी किरणों में
उसका रत्नकिरीट चमक उठा। अश्व वेग से चला जा रहा था
और मधूलिका निष्ठुर प्रहार करके क्या स्वयं आहत न हुई?
उसके हृदय में टीस-सी होने लगी।

वह सजल नेत्रों से, उड़ती हुई धूल देखने लगी।

× × ×

मधूलिका ने राजा का प्रतिदान, अनुग्रह नहीं लिया। वह दूसरे खेतों में काम करती और चौथे पहर रूखी-सूखी खाकर पड़ी रहती। मधूक के वृक्ष के नीचे एक छोटी-सी पर्ण-कुटीर थी। सूखे डंठलों से उसकी दीवार बनी थी। मधूलिका का वहीं आश्रम था। कठोर परिश्रम से जो रूखा अन्न मिलता, वही उसकी सांसों को बढ़ाने के लिए पर्याप्त था। दुबली होने पर भी उसके अंग पर तपस्या की कांति थी। आस-पास के कृषक उसका आदर करते। वह एक आदर्श बालिका थी। दिन, सप्ताह, महीने और वर्ष बीतने लगे।

शीतकाल की रजनी, मेघों से भरा आकाश, जिसमें बिजली की दौड़-धूप। मधूलिका का छाजन टपक रहा था, ओढ़ने की कमी थी। वह ठिठुरकर एक कोने में बैठी थी। मधूलिका अपने अभाव को आज बढ़ाकर सोच रही थी। जीवन में सामंजस्य बनाए रखने वाले उपकरण तो अपनी सीमा निर्धारित रखते हैं, परंतु उनकी आवश्यकता और कल्पना भावना के साथ बढ़ती-घटती रहती है। आज बहुत दिनों पर उसे बीती हुई बात स्मरण हुई—दो, नहीं-नहीं तीन वर्ष हुए होंगे, इसी मधूक के नीचे, प्रभात में—तरुण राजकुमार ने क्या कहा था?

वह अपने हृदय से पूछने लगी—उन चाटुकारी शब्दों को सुनने के लिए, उत्सुक-सी वह पूछने लगी—क्या कहा था? दुख-दग्ध हृदय उन स्वप्न-सी बातों को स्मरण रख सकता था! और स्मरण ही होता, तो भी कष्टों की इस काली निशा में वह कहने का साहस करता? हाय री विडंबना!

आज मधूलिका उस बीते हुए क्षण को लौटा लेने के लिए विकल थी। दारिद्र्य की ठोकड़ों ने उसे व्यथित और अधीर कर दिया है। मगध की प्रासाद-माला के वैभव का काल्पनिक चित्र—उन सूखे डंठलों की रंध्रों से, नभ में—बिजली के आलोक में—नाचता हुआ दिखाई देने लगा। खिलवाड़ी शिशु जैसे श्रावण की संध्या में जुगनू को पकड़ने के लिए हाथ लपकाता है, वैसे ही मधूलिका ‘अभी वह निकल गया’ मन-ही-मन कह रही थी। वर्षा ने भीषण रूप धारण किया। गड़गड़ाहट बढ़ने लगी। ओले पड़ने की संभावना थी। मधूलिका अपनी जर्जर झोंपड़ी के लिए कांप उठी। सहसा बाहर कुछ शब्द हुआ—

‘कौन है यहां? पथिक को आश्रय चाहिए।’

मधूलिका ने डंठलों का कपाट खोल दिया। बिजली चमक उठी। उसने देखा, एक पुरुष घोड़े की डोर पकड़े खड़ा है। वह सहसा चिल्ला उठी, ‘राजकुमार!’

‘मधूलिका?’ आश्चर्य से युवक ने कहा।

एक क्षण के लिए सन्नाटा छा गया। मधूलिका अपनी कल्पना को सहसा प्रत्यक्ष देखकर चकित हो गई—‘इतने दिनों के बाद आज फिर!’

अरुण ने कहा—‘कितना समझाया मैंने—परंतु...’

मधूलिका अपनी दयनीय अवस्था पर संकेत करने देना नहीं चाहती थी। उसने कहा—‘और आज आपकी यह क्या दशा है?’

सिर झुकाकर अरुण ने कहा—‘मैं मगध का विद्रोही, निर्वासित, कौशल में जीविक खोजने आया हूं।’

मधूलिका उस अंधकार में हंस पड़ी—‘मगध के विद्रोही राजकुमार का स्वागत करे एक अनाथिनी कृषक-बालिका! यह भी एक विडंबना है! तो भी मैं स्वागत के लिए प्रस्तुत हूं।’

× × ×

शीतकाल की निस्तब्ध रजनी, कुहरे से धुली हुई चांदनी, हाड़ कंपा देने वाला समीर, तो भी अरुण और मधूलिका दोनों पहाड़ी गह्वर के द्वार पर वट वृक्ष के नीचे बैठे हुए बातें कर रहे हैं। मधूलिका की वाणी में उत्साह था, किंतु अरुण जैसे अत्यंत सावधान होकर बोलता।

मधूलिका ने पूछा—‘जब तुम इतनी विपन्न अवस्था में हो, तो फिर इतने सैनिकों को साथ रखने की क्या आवश्यकता?’

‘मधूलिका! बाहुबल ही तो वीरों की आजीविका है। ये मेरे जीवन-मरण के साथी हैं। भला मैं इन्हें कैसे छोड़ देता? और करता ही क्या?’

‘क्यों? हम लोग परिश्रम से कमाते और खाते हैं। अब तो तुम...’

‘भूल न करो, मैं अपने बाहुबल पर भरोसा करता हूं। नए राज्य की स्थापना कर सकता हूं। निराश क्यों हो जाऊं?’ अरुण के शब्दों में कंपन था; वह जैसे कुछ कहना चाहता था, पर कह न सकता था।

‘नवीन राज्य! ओहो, तुम्हारा उत्साह तो कम नहीं! भला कैसे? कोई ढंग बताओ तो कल्पना का आनंद ले लूं।’

‘कल्पना का आनंद नहीं मधूलिका, मैं तुम्हें राजधानी के सम्मान में सिंहासन पर बिठाऊंगा। तुम अपने छिने हुए खेत की चिंता करके भयभीत न हो।’

एक क्षण में सरला मधूलिका के मन में प्रमाद का अंधड़ बहने लगा—द्वंद्व मच गया। उसने सहसा कहा—‘आह, मैं सचमुच आज तक तुम्हारी प्रतीक्षा करती थी, राजकुमार!’

अरुण ढिठाई से उसके हाथों को दबाकर बोला—‘तो मेरा भ्रम था, तुम सचमुच मुझे प्यार करती हो?’

युवती का वक्षस्थल फूल उठा, वह हां भी नहीं कर सकी, ना भी नहीं। अरुण ने उसकी अवस्था का अनुभव कर लिया। कुशल मनुष्य के समान उसने अवसर को हाथ से न जाने दिया। तुरंत बोल उठा—‘तुम्हारी इच्छा हो तो प्राणों से पण लगाकर मैं तुम्हें इसी कौशल-सिंहासन पर बिठा दूँ। मधूलिका, अरुण के खड्ग का आतंक देखोगी?’

मधूलिका एक बार कांप उठी। वह कहना चाहती थी—‘नहीं, किंतु उसके मुंह से निकला, ‘क्या?’

‘सत्य, मधूलिका, कौशल-नरेश तभी से तुम्हारे लिए चिंतित हैं। यह मैं जानता हूँ, तुम्हारी साधारण-सी प्रार्थना वे अस्वीकार न करेंगे। और मुझे यह भी विदित है कि कौशल के सेनापति अधिकांश सैनिकों के साथ पहाड़ी दस्युओं का दमन करने के लिए बहुत दूर चले गए हैं।’

मधूलिका की आंखों के आगे बिजलियां हंसने लगीं। दारुण भावना से उसका मस्तक विकृत हो उठा। अरुण ने कहा—‘तुम बोलती नहीं हो?’

‘जो कहोगे वही करूंगी।’ मंत्र-मुग्ध-सी मधूलिका ने कहा।

× × ×

स्वर्ण-मंच पर कौशल-नरेश अर्द्ध-निद्रित अवस्था में आंखें मुकुलित किए हैं। एक चामरधारिणी युवती पीछे खड़ी अपनी कलाई बड़ी कुशलता से घुमा रही है। चामर के शुभ्र आंदोलन उस प्रकोष्ठ में धीरे-धीरे संचालित हो रहे हैं। तांबूल-वाहिनी प्रतिमा के समान वह दूर खड़ी है।

प्रतिहारी ने आकर कहा—‘जय हो देव! एक स्त्री कुछ प्रार्थना करने आई है।’

आंख खोलते हुए महाराज ने कहा—‘स्त्री! प्रार्थना करने आई है? आने दो!’

प्रतिहारी के साथ मधूलिका आई। उसने प्रणाम किया। महाराज ने स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखा और कहा—‘तुम्हें कहीं देखा है?’

‘तीन बरस हुए देव! मेरी भूमि खेती के लिए ली गई थी।’

‘ओह, तो तुमने इतने दिन कष्ट में बिताए। आज उसका मूल्य मांगने आई हो, क्यों? अच्छा-अच्छा, तुम्हें मिलेगा। प्रतिहारी!’

‘नहीं महाराज, मुझे मूल्य नहीं चाहिए।’

‘मूर्ख! फिर क्या चाहिए?’

‘उतनी ही भूमि, दुर्ग के दक्षिणी नाले के समीप की जंगली भूमि। वहीं मैं अपनी खेती करूंगी। मुझे एक सहायक मिल गया है। वह मनुष्यों से मेरी सहायता करेगा। भूमि को समतल भी तो बनाना होगा।’

महाराज ने कहा—‘कृषक-बालिके! वह बड़ी ऊबड़-खाबड़ भूमि है। तिस पर वह दुर्ग के समीप एक सैनिक महत्त्व रखती है।’

‘तो फिर निराश लौट जाऊं?’

‘सिंहमित्र की कन्या! मैं क्या करूं? तुम्हारी यह प्रार्थना...।’

‘देव! जैसी आज्ञा हो।’

‘जाओ, तुम श्रमजीवियों को उसमें लगाओ। मैं अमात्य को आज्ञापत्र देने का आदेश करता हूँ।’

‘जय हो देव!’ कहकर प्रणाम करती हुई मधूलिका राज-मंदिर के बाहर आई।

× × ×

दुर्ग के दक्षिण, भयावने नाले के तट पर घना जंगल है। आज वहां मनुष्यों के पद-संचार से शून्यता भंग हो रही थी। अरुण के छिपे हुए मनुष्य स्वतंत्रता से इधर-उधर घूमते थे। झाड़ियों को काटकर पथ बन रहा था।

नगर दूर था; फिर उधर यों ही कोई नहीं आता था। फिर अब तो महाराज की आज्ञा से वहां मधूलिका का अच्छा-सा खेत बन रहा था। तब इधर की किसको चिंता होती?

एक घने कुंज में अरुण और मधूलिका एक-दूसरे को हर्षित नेत्रों से देख रहे थे। संध्या हो चली थी। उस निविड़ वन में उन नवागत मनुष्यों को देखकर, पक्षी-गण अपने नीड़ को लौटते हुए अधिक कोलाहल कर रहे थे।

प्रसन्नता से अरुण की आंखें चमक उठीं। सूर्य की अंतिम किरणें झुरमुट में घुसकर मधूलिका के कपोलों से खेलने लगीं। अरुण ने कहा—

‘चार पहर और; विश्वास करो; प्रभात में ही इस जीर्ण-कलेवर कौशल-राष्ट्र की राजधानी श्रावस्ती में तुम्हारा अभिषेक होगा और मगध से निर्वासित मैं, एक स्वतंत्र राष्ट्र का अधिपति बनूंगा, मधूलिके!’

‘भयानक! अरुण, तुम्हारा साहस देखकर मैं चकित हो रही हूँ। केवल सौ सैनिकों से तुम...!’

‘रात के तीसरे पहर मेरी विजय-यात्रा होगी।’

‘तो तुमको इस विजय पर विश्वास है?’

‘अवश्य। तुम अपनी झोंपड़ी में यह रात बिताओ, प्रभात से तो राजमंदिर ही तुम्हारा लीला-निकेतन बनेगा।’

मधूलिका प्रसन्न थी किंतु अरुण के लिए उसकी कल्याण-कामना सशंक थी। वह कभी-कभी उद्विग्न-सी होकर बालकों के समान प्रश्न कर बैठती। अरुण उसका समाधान कर देता। सहसा कोई संकेत पाकर उसने कहा—‘अच्छा, अंधकार अधिक हो गया। अभी तुम्हें दूर जाना है और मुझे भी प्राणपण से इस अभियान के प्रारंभिक कार्यों को अर्ध-रात्रि तक पूरा कर लेना चाहिए, तब रात्रि-भर के लिए विदा, मधूलिके!’

मधूलिका उठ खड़ी हुई। कंटीली झाड़ियों से उलझती हुई, क्रम से बढ़ने वाले अंधकार में वह अपनी झोंपड़ी की ओर चली।

x x x

पथ अंधकारमय था और मधूलिका का हृदय भी निविड तम से घिरा था। उसका मन सहसा विचलित हो उठा, मधुरता नष्ट हो गई। जितनी सुख-कल्पना थी, वह जैसे अंधकार में विलीन होने लगी। वह भयभीत थी। पहला भय उसे अरुण के लिए उत्पन्न हुआ, यदि वह सफल न हुआ तो? फिर सहसा सोचने लगी—वह क्यों सफल हो? श्रावस्ती-दुर्ग एक विदेशी के अधिकार में क्यों चला जाए? मगध कौशल का चिरशत्रु! ओह उसकी विजय! कौशल-नरेश ने क्या कहा था—‘सिंहमित्र की कन्या!’ सिंहमित्र कौशल का रक्षक वीर, उसी की कन्या आज क्या करने जा रही है? नहीं, नहीं। ‘मधूलिका! मधूलिका!’ जैसे उसके पिता उसे अंधकार में पुकार रहे थे। वह पगली की तरह चिल्ला उठी—‘रास्ता भूल गई।’

रात एक पहर बीत चली, पर मधूलिका अपनी झोंपड़ी तक न पहुंची। वह उधेड़-बुन में विक्षिप्त-सी चली जा रही थी। उसकी आंखों के सामने कभी सिंहमित्र और कभी अरुण की मूर्ति अंधकार में चित्रित हो जाती।

उसे सामने आलोक दिखाई पड़ा। बीच पथ में खड़ी हो गई। प्रायः एक सौ उल्काधारी अश्वारोही चले आ रहे थे और आगे-आगे एक वीर अधेड़ सैनिक था। उसके बाएं हाथ में अश्व की वल्गा और दाहिने हाथ में ग्न खड्ग। अत्यंत धीरता से वह टुकड़ी अपने पथ पर चल रही थी। परंतु मधूलिका बीच पथ से हिली नहीं। प्रमुख सैनिक पास आ

गया, पर मधूलिका अब भी नहीं हटी। सैनिक ने अश्व रोककर कहा—‘कौन?’ कोई उत्तर नहीं मिला। तब तक दूसरे अश्वारोही ने कड़ककर कहा, ‘तू कौन है स्त्री? कौशल के सेनापति को शीघ्र उत्तर दे!’

रमणी जैसे विकार-ग्रस्त स्वर में चिल्ला उठी—‘बांध लो मुझे, बांध लो! मेरी हत्या करो। मैंने अपराध ही ऐसा किया है।’

सेनापति हंस पड़े। बोले—‘पगली है।’

‘पगली! नहीं, यदि वही होती तो इतनी विचार-वेदना क्यों होती? सेनापति! मुझे बांध लो। राजा के पास ले चलो।’

‘क्या है? स्पष्ट कह।’

‘श्रावस्ती का दुर्ग एक प्रहर में दस्युओं के हस्तगत हो जाएगा। दक्षिणी नाले के पार उनका आक्रमण होगा।’

सेनापति चौंक उठे। उन्होंने आश्चर्य से पूछा—‘तू क्या कह रही है?’

‘मैं सत्य कह रही हूं। शीघ्रता करो।’

सेनापति ने अस्सी सैनिकों को नाले की ओर धीरे-धीरे बढ़ने की आज्ञा दी और स्वयं बीस अश्वारोहियों के साथ दुर्ग की ओर बढ़े। मधूलिका एक अश्वारोही के साथ बांध दी गई।

x x x

श्रावस्ती का दुर्ग, कौशल-राष्ट्र का केंद्र, इस रात्रि में अपने विगत वैभव का स्वप्न देख रहा था। भिन्न राजवंशों ने उसके प्रांतों पर अधिकार जमा लिया है। अब वह केवल कई गांवों का अधिपति है। फिर भी उसके साथ कौशल के अतीत की स्वर्ण-गाथाएं लिपटी हैं। वही लोगों की ईर्ष्या का कारण है। दुर्ग के प्रहरी चौंक उठे, जब घोड़े-से अश्वारोही बड़े वेग से आते हुए दुर्ग-द्वार पर रुके। जब उल्का के आलोक में उन्होंने सेनापति को पहचाना, तब द्वार खुला। सेनापति घोड़े की पीठ से उतरे। उन्होंने कहा—‘अग्निसेन! दुर्ग में कितने सैनिक होंगे?’

‘सेनापति की जय हो। दो सौ।’

‘उन्हें शीघ्र एकत्र करो, परंतु बिना किसी शब्द के। सौ को लेकर तुम शीघ्र चुपचाप दुर्ग के दक्षिण की ओर चलो। आलोक और शब्द न हो।’

सेनापति ने मधूलिका की ओर देखा। वह खोल दी गई। उसे अपने पीछे आने का संकेत कर, सेनापति राज-

मंदिर की ओर बढ़े। प्रतिहारी ने सेनापति को देखते ही महाराज को सावधान किया। वे अपनी सुखनिद्रा के लिए प्रस्तुत हो रहे थे। किंतु सेनापति और साथ में मधूलिका को देखते ही चंचल हो उठे।

सेनापति ने कहा—‘जय हो, देव! इस स्त्री के कारण मुझे इस समय उपस्थित होना पड़ा है।’

महाराज ने स्थिर नेत्रों से देखकर कहा—‘सिंहमित्र की कन्या, फिर यहां क्यों? क्या तुम्हारा क्षेत्र नहीं बन रहा है? कोई बाधा? सेनापति! मैंने दुर्ग के दक्षिणी नाले के समीप की भूमि इसे दी है। क्या उसी संबंध में तुम कहना चाहते हो?’

‘देव! किसी गुप्त शत्रु ने उसी ओर से आज की रात दुर्ग पर अधिकार कर लेने का प्रबंध किया है और इसी स्त्री ने मुझे पथ में यह संदेश दिया है।’

राजा ने मधूलिका की ओर देखा। वह कांप उठी। घृणा और लज्जा से वह गड़ी जा रही थी। राजा ने पूछा—‘मधूलिका, यह सत्य है?’

‘हां, देव!’

राजा ने सेनापति से कहा—‘सैनिकों को एकत्र करके तुम चलो, मैं अभी आता हूं।’ सेनापति के चले जाने पर राजा ने कहा—‘सिंहमित्र की कन्या! तुमने एक बार फिर कौशल का उपकार किया। यह सूचना देकर तुमने पुरस्कार का काम

किया है। अच्छा तुम यहीं ठहरो। पहले उन आतताइयों का प्रबंध कर लूं।’

x x x

अपने साहसिक अभियान में अरुण बंदी हुआ और दुर्ग उल्का के आलोक में अतिरंजित हो गया। भीड़ ने जयघोष किया। सबके मन में था—श्रावस्ती दुर्ग आज एक दस्यु के हाथ में जाने से बचा। आबाल-वृद्ध-नारी आनंद से उन्मत्त हो उठे।

उषा के आलोक में सभा-मंडप दर्शकों से भर गया। बंदी अरुण को देखते ही जनता ने रोष से हुंकार करते हुए कहा—‘वध करो!’ राजा ने सबसे सहमत होकर आज्ञा दी—‘प्राण-दंड।’ मधूलिका बुलाई गई। वह पगली-सी आकर खड़ी हो गई। कौशल नरेश ने पूछा—‘मधूलिका! तुझे जो पुरस्कार लेना हो, मांग!’ वह चुप रही।

राजा ने कहा—‘मेरे निज की जितनी खेती है, मैं सब तुझे देता हूं।’

मधूलिका ने एक बार बंदी अरुण की ओर देखा। उसने कहा—‘मुझे नहीं चाहिए।’ अरुण हंस पड़ा।

राजा ने कहा—‘नहीं, मैं तुझे अवश्य दूंगा, मांग ले।’

‘तो मुझे भी प्राण-दंड मिले।’ कहती हुई वह बंदी अरुण के पास जा खड़ी हुई। ❖

स्कूल में डर किस कदर व्यापा होता है यह जानकर आश्चर्य ही होता है। फिर इसकी चर्चा इतनी कम क्यों होती है? मुझे तो लगता है कि बच्चों में भय देखकर भी हम उसे पहचानते नहीं हैं। संभव है लोग केवल भय के स्थूल रूप को ही पहचानते हों, जैसे कोई नन्हटा-सा बच्चा रोता-बिलखता अपनी मां से लिपटे चला जा रहा है। पर उनके उस सूक्ष्म रूप को, जिसमें बच्चों के चेहरे पर, उनकी आवाजों व भाव-भंगिमाओं में, लिखा पढ़ पाता हूं, उसे लोग नहीं पहचानते। पर ये चेहरे, ये आवाजें, ये भाव-भंगिमाएं मुझे बताती हैं कि अधिकतर बच्चे स्कूलों में अधिकांश समय भयभीत ही रहते हैं। और कुछ तो बेहद डरे हुए रहते हैं। पर ये अच्छे सैनिकों की तरह अपने भय को काबू में रखते हैं, उनके साथ जीना सीख लेते हैं, उनसे समझौता कर लेते हैं। पर मुश्किल तो यह है कि लड़ाई के मैदान में और स्कूल में एक बुनियादी अंतर है। वह इस बात में है कि भय के साथ किया हरेक समझौता बच्चे के लिए हानिकारक होता है। वह उसकी मेधा को, उसकी क्षमताओं को नष्ट करता है। एक भयभीत योद्धा शायद एक बेहतरीन सैनिक सिद्ध हो सकता है, पर एक सहमा हुआ शिक्षार्थी हमेशा एक खराब शिक्षार्थी ही होता है।

—जॉन होल्ट

•
एक संवाद

बात कुछ यों शुरू हुई :

मैंने कहा मैं लौटकर आना चाहता हूं।

मगर कहाँ ?

यहीं

यहीं कहीं जहाँ मैं भटक गया था

लुभावनी संभावनाओं की छलना में

या छोटी-मोटी सुविधाओं के लालच में

या शायद अपने ही अहंकार की भूलभुलैया में।

अब आगे ?

आगे क्या ? आगे कुछ नहीं है,
अस्तित्व की सरहद से आगे क्या होगा ?

शायद कोई दूसरा अस्तित्व

कोई दूसरी सरहद

जिस तक पहुंचा जा सकता हो।

पर मैं तो लौट आना चाहता हूं

यहीं

जहाँ मैंने पहली बार रास्ता पहचाना था

और आखिरी बार

भटक गया था।

इस पर बात आगे नहीं चली

बंद हो गई।

•
ऐसा क्या देखा

ऐसा क्या देखा

कि लगा

बारिश हो गई

अचानक ही

और फिर धूल से लदे

मटमैले

पत्ते सब

आत्मा के

धुल गए

बंद सभी रोशनदान

खुल गए।

नेमिचन्द्र जैन की कविताएं

•
व्याख्या

एक दिन कहा गया था

दुनिया की व्याख्या बहुत हो चुकी

जरूरत उसे बदलने की है

तब से लगातार

बदला जा रहा है

दुनिया को

बदली है अपने-आप भी

पर क्या अब यह नहीं लगता

कि और बदलने से पहले

कुछ

व्याख्या की जरूरत है ?

•
परिभाषा

निस्तब्ध समर्पित मन की अभिलाषा क्या है ?

बंदी के अंतर में रीती आशा क्या है ?

अनगिनती तागे उलझे हैं जाने कब से

इस उलझन की क्या जाने परिभाषा क्या है ?

•
स्वर

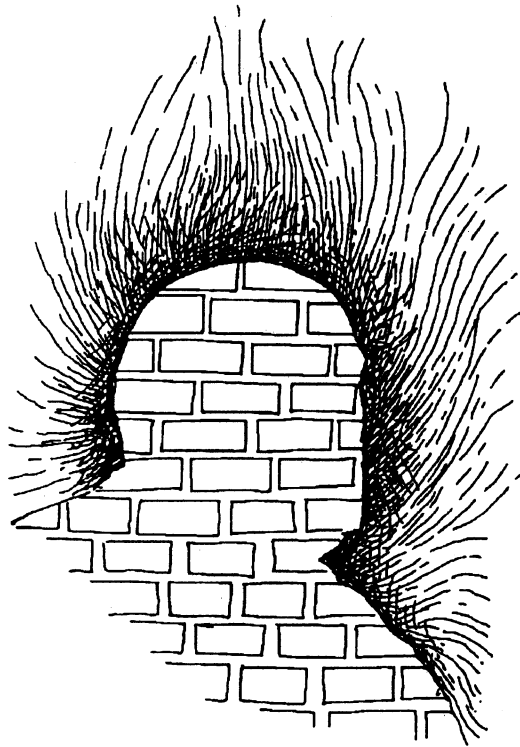
यह अंतिम वादी स्वर यह भी अब रुक जाए

धीमी लय द्रुत होकर टूटे, और चुक जाए

डूब जाय संध्या के रागों का मायालोक

ध्रुवपद के उस सम पर मस्तक भी झुक जाए। ❖❖

शीलन



एक बच्ची पूछती है, 'गलती की माफी मांगने का उत्साह कैसे हो सकता है? ऐसा करने में तो शर्म आती है। और फिर आप क्यों कहते हैं शर्म नहीं आनी चाहिए?' गांधीजी ने जवाब लिखा, 'गलती करना बुरा है उसकी शर्म आनी चाहिए। मगर गलती की माफी मांगना तो अच्छा काम है, उसमें शर्म क्यों? माफी मांगने का अर्थ है फिर गलती न करने का निश्चय। ऐसा निश्चय करने में शर्म काहे की?'

'अग्नि कुंड में खिला गुलाब' से

गुरुत्व के व्यासपीठ पर प्रतिष्ठित होकर वे लघुत्व के चरमोत्कर्ष का स्पर्श पा चुके हैं तथा लघुत्व यानी शिष्यत्व की समग्र अर्हताओं को विकसित कर गुरुत्व की गरिमा स्वतः उनमें प्रकट हो चुकी है। इसीलिए प्रभुता में लघुता और लघुता में प्रभुता का अहसास कराने वाला उनका अगुरु लघु व्यक्तित्व सचमुच सिद्धत्व का जीवंत प्रतिमाच है।

निर्धूम दीप की अप्रकंप लौ

साध्वी संघप्रभा

संसार के रंगमंच पर अनेक व्यक्तित्व उभरते हैं और काल के नेपथ्य के पीछे अस्त हो जाते हैं, लेकिन कुछ महापुरुष ऐसे होते हैं जो अपने विराट व्यक्तित्व और कालजयी कर्तृत्व से अपने युग को ही नहीं, आने वाली कई सदियों को भी प्रभावित करते हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञ एक ऐसे ही विलक्षण व्यक्तित्व का नाम है, जिनका चिंतन एवं दर्शन न केवल तेरापंथ समाज या जैन धर्म का अपितु संपूर्ण भारतीय वाङ्मय का सशक्त प्रतिनिधित्व करता है। बयासी वर्ष पूर्व (आषाढ़ कृष्ण त्रयोदशी, वि. सं. 1977, 14, जून, 1920) राजस्थान के झुंझुनू जिले के टमकोर नामक एक छोटे-से गांव में चौरडिया परिवार में बालक नत्थू के रूप में जन्मे एक नन्हे-से कुमार ने साधारण परिवार में रहकर असाधारण क्षमताओं को हासिल किया। आचार्यश्री महाप्रज्ञ वस्तुतः इन्हीं विरल विशिष्टताओं का एक दुर्लभ दस्तावेज है जो आने वाली पीढ़ियों के लिए सदैव प्रेरणास्रोत बना रहेगा।

अपने आराध्य गुरुदेव श्री तुलसी के प्रति अगाध समर्पण, प्रबल पुरुषार्थ, सतत अध्यवसाय तथा गहन योगनिष्ठा द्वारा अपनी अंतःप्रज्ञा जागृत कर संसार को प्रेक्षाध्यान के रूप में जो पद्धति उन्होंने प्रदान की है, वह वस्तुतः वर्तमान युग में तनावपूर्ण जीवन शैली वालों के लिए एक अमृतौषध के रूप में सिद्ध हो रही है। उनकी आत्मासाधना, योग-साधना एवं आध्यात्मिक साधना समूची मानव जाति के लिए अमूल्य धरोहर है। अपने आराध्य गुरुदेव श्री तुलसी के सान्निध्य में लगातार 67 वर्षों तक रहकर उन्होंने न केवल अपना निर्माण किया, बल्कि आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्वों के निर्माण की एक नई शृंखला का निर्माण कर उन्होंने समय के भाल पर नए मानव व नए विश्व की रचना का एक नया अध्याय आलेखित कर दिया है।

उनकी वाणी में कभी वेदांत का ज्ञान, तो कभी इस्लाम का भ्रातृत्व अनुगुंजित होता है। उनके जीवन में कभी सिक्खों की एकता, तो कभी बौद्धों की करुणा का प्रतिबिंब झलकता

है। उनके व्यवहार में कभी ईसाइयों का सेवाव्रत, तो कभी जैनों का संयम व अनासक्तयोग परिलक्षित होता है। उनकी लेखनी में कभी आचार्य सिद्धसेन का गांभीर्य, तो कभी आचार्य हेमचन्द्र का वैदूष्य, कभी उपाध्याय यशोविजय का प्रातिभ-कौशल, तो कभी आचार्य अफलंक का पांडित्य, कभी आचार्य भद्रबाहु की ध्यान साधना, तो कभी आचार्य वृद्धवादी की वज्र संकल्प निष्ठा, कभी आचार्य सुधर्मा की बहुश्रुता, तो कभी आचार्य जम्बु की ग्रहणशीलता के दर्शन होते हैं। उनके वाङ्मय में कभी रामकृष्ण परमहंस का समर्पण, तो कभी विवेकानन्द का राष्ट्रवादी चिंतन, कभी मार्क्स का साम्यवादी दर्शन, तो कभी गांधी का समतावादी विमर्शन अभिव्यक्त होता है। उनके आभामंडल में कभी बुद्ध की कोमलता, तो कभी महावीर की निर्मलता, कभी कृष्ण की कर्मशीलता, तो कभी राम की मर्यादाशीलता दीप्तिमान होती है। उनकी प्रशासना में आचार्य भिक्षु की दूरदर्शिता, आचार्य भारीमाल की पाप-भीरुता, आचार्य ऋषिराय की निर्भीकता, आचार्य जय की एकाग्रता, आचार्य मधवा की मृदुता, आचार्य माणक की ऋजुता, आचार्य डाल की अनुशासनबद्धता, आचार्य कालू की तपस्विता और आचार्य तुलसी की तेजस्विता स्वतः मूर्तिमान हो उठती है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ एक सफल आचार्य ही नहीं, महान ऋषि भी हैं। महानता के लिए आवश्यक है मन की पवित्रता, विचारों में विमलता, वाणी में मधुरता, व्यवहार में शिष्टता, हृदय में उदारता, चिंतन में स्पष्टता और वृत्तियों में अंतर्मुखता। महानता जन्म के साथ ही नहीं जन्मती, उसके लिए चाहिए गहन वैराग्य और सघन अभ्यास। आचार्य महाप्रज्ञ अपने इन्हीं गुणों के कारण महानता की पराकाष्ठा तक पहुंच चुके हैं, जहां दिशा स्वयं अदिशा में, गति स्वयं अगति में बदल जाती है। गुरुत्व के व्यासपीठ पर प्रतिष्ठित होकर वे लघुत्व के चरमोत्कर्ष का स्पर्श पा चुके हैं तथा लघुत्व यानी शिष्यत्व की समग्र अर्हताओं को विकसित कर गुरुत्व की गरिमा स्वतः उनमें प्रकट हो चुकी है। इसीलिए प्रभुता में

जन्म दिवस पर विशेष

लघुता और लघुता में प्रभुता का अहसास कराने वाला उनका अगुरु लघु व्यक्तित्व सचमुच सिद्धत्व का जीवंत प्रतिमान है।

अपने मुनि जीवन के प्रारंभिक युग में 'नत्थू हाबू, बल्कलचौरा' जैसे संबोधनों से पुकारे जाने वाले मुनि नथमल, प्रखर प्रतिभाशाली तथा मेधावी कहलाने वाले अपने सभी सहपाठी बाल-साथियों को पीछे छोड़कर विकास के उस शिखर पर आरूढ़ हो गए हैं जहां जैनत्व स्वयं जिनत्व में परिणत हो जाता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ अनेकांत के सफल प्रवक्ता ही नहीं, प्रयोक्ता पुरुष भी हैं। वे ज्ञात होकर भी अज्ञात हैं। सदेह होकर भी विदेह हैं। व्यक्त होकर भी अव्यक्त हैं। विरोध होकर भी अविरोध हैं, द्वैत होकर भी अद्वैत हैं, सकर्म होकर भी अकर्म हैं, गतिशील होकर भी स्थित हैं, उपमित होकर भी अनुपमेय हैं। बीसवीं सदी के युगप्रधान आचार्य की गौरवशाली शृंखला में उनका नाम ठीक वैसे ही सुशोभित हो रहा है जैसे माला के मनकों में सुमेरु का।

प्रारंभ में मुनि नथमल, मध्य में युवाचार्य महाप्रज्ञ और अंत में आचार्यश्री महाप्रज्ञ के रूप में प्रख्यात होने वाले इस मनस्वी की जीवन यात्रा का प्रत्येक चरण साधना की सौरभ और अध्यात्म के उजाले से ओत-प्रोत है। निकाय-सचिव, महाप्रज्ञ, जैन-योग पुनरुद्धारक, मैन ऑफ द इयर, युगप्रधान जैसे अनेकानेक पदों व उपमाओं से अलंकृत होकर भी वे स्वयं के परिचय में केवल एक शब्द का प्रयोग करते हैं वह है 'आत्मा'। जिनके आगे-पीछे, दाएं-बाएं, बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे सर्वत्र सर्वतः सिर्फ एक ही नाद अनुगुंजित होता रहता है—आत्मा, आत्मा और आत्मा। इसीलिए वे शब्दातीत हैं। रूप होकर भी रूपातीत हैं। देश, काल और समय की सीमाएं उन्हें बद्ध नहीं कर सकतीं, क्योंकि उनका चिंतन युग का चिंतन है, उनका दर्शन युग का दर्शन है, उनका कर्म युग का कर्म है, उनकी वाणी युग की वाणी है, उनका संबोध युग का बोध है, उनकी शैली युग की शैली और उनका साहित्य युग का साहित्य है। इसलिए युग-चेतना ने उन्हें युगप्रधान की उपाधि से विभूषित किया है। विश्व-पटल पर युगप्रधान के रूप में अभिनंदित होकर भी वे स्वयं को एक सच्चे युगसेवक के रूप में प्रस्तुत करना चाहते हैं।

जब आचार्यश्री तुलसी ने अपनी सदेहावस्था में अपने यशस्वी उत्तराधिकारी युवाचार्य महाप्रज्ञ को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित कर जैन इतिहास में एक विलक्षण अध्याय की संरचना की, तब हजारों-लाखों निगाहें अजीब-सी हलचल

के साथ विस्मय के महासागर में डुबकियां लगा रही थीं। पर निश्चल योगी महाप्रज्ञ ठीक वैसे ही अंतःस्थित थे जैसे निर्धूम दीप की अप्रकंप लौ। न रिक्तता, न अतिरिक्तता, न हर्ष, न कुतूहल—उनकी सौम्य मुखमुद्रा पर वही सहजता, वही प्रसन्नता, वही गंभीरता। आचार्य बनने से पूर्व या बनने के बाद उनकी भाव-भंगिमा में कोई अंतर नहीं आया। हृदय-मंदिर में गुरु के प्रति अनंत-आस्था, अविचल श्रद्धा और अगाध समर्पण का दिव्यदीप जलाए, उनकी शिष्य-निष्ठा का जब मौन प्रणाम मुखर होता है तो एक-एक शब्द श्रोताओं को मानो कबीर के सहजानंद, तुलसी के भक्तिरस, रहीम के प्रेम-पुष्प और सूरदास के समर्पण की समुज्ज्वल मुक्ताओं को बिखेरता हुआ सचमुच गीता में उद्भाषित योगी की उत्कृष्ट अवस्था का अहसास कराता है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्षः उदासीनो गतव्यथः।

सर्वारम्भ परित्यागी, मदभक्तः स मे प्रियः॥

अर्थात् हे अर्जुन! जिसका मन जगत की सभी अपेक्षाओं से मुक्त, पवित्र, चतुर, उदासीन, व्यथारहित तथा समस्त प्रकार के आरंभ व परिग्रह का परित्याग कर चुका है वही भक्त-योगी मुझे प्रिय है। योगी की महत्ता को प्रकाशित करते हुए शास्त्रकारों ने यहां तक कह दिया है—

तपस्विभ्यो अधिको योगी, ज्ञानिभ्यो मतोऽधिकः।

कर्मिभ्य अधिको योगी, तस्माद्योगी भवार्जुन॥

अर्थात् योगी तपस्वी से श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानियों से श्रेष्ठ माना गया और सकाम कर्म करने वालों से भी योगी श्रेष्ठ है। इसलिए हे अर्जुन! तू योगी है।

सचमुच आचार्यश्री महाप्रज्ञ एक ऐसे ही उच्च कोटि के योगी हैं, जिनकी पारदर्शी चेतना क्षितिज के उस पार पहुंच चुकी है—जहां केवल समता, सरलता, शांति और वीतरागता का साम्राज्य संस्थित है। 10-12 फरवरी 2000 को तारानगर (राजस्थान) मर्यादा महोत्सव के अवसर पर चतुर्विध धर्मसंघ द्वारा आयोजित 'युगप्रधान अभिवंदना समारोह' में उन्होंने एक महत्वपूर्ण बात कही कि—अच्छा होता कि मुझे युगप्रधान की अपेक्षा शाश्वतप्रधान के रूप में संबोधित किया जाता। मैं चाहता हूं, मेरे धर्मसंघ का प्रत्येक सदस्य शाश्वतप्रधान बने। ऐसी घोषणा वही व्यक्ति कर सकता है जो स्वयं योगप्रधान अथवा आत्मप्रधान हो। महाप्रज्ञ की भाषा में—'आचार्य तुलसी ने मुझे योगी पहले बनाया, आचार्य बाद में।—इसलिए मैं हर स्थिति में संतुलित एवं शांत रह सका।' यह कहना अतिरंजना नहीं होगा कि आचार्यश्री

महाप्रज्ञ जिनागम-हिमालय के एक ऐसे उत्तुंग शिखर हैं जहां से निःसृत प्रज्ञा की सहस्रों धवल धाराएं सदियों तक विश्वमानस के कल्मष को धोती हुई धरती पर फिर से अमन और चैन की नई फसल उगाएंगी।

शैशव-सी सरलता, यौवन-सी कर्मशीलता तथा वृद्धत्व-सी अनुभवप्रवणता से युक्त अपने बहुआयामी जीवन

के आठ दशकों को पार करने वाले आचार्यश्री महाप्रज्ञ का आषाढ़ कृष्णा त्रयोदशी को आने वाला 82वां जन्म दिन संपूर्ण विश्व को सृजन का नया संदेश देने वाला बने। ऐसे महान योगी आचार्य का जीवन धर्मसंघ में सहस्रों योग-साधकों के लिए योग के सूक्ष्म रहस्यों के अनावरण की अभिनव प्रयोगशाला बने। ❖

साधारणतः मनुष्य अपने दोषों और भूलों को पड़ोसियों पर लादना चाहता है, यह न जमा, तो उन सबको ईश्वर के मत्थे मढ़ना चाहता है, और इसमें भी यदि सफल न हुआ, तो फिर भाग्य नामक एक 'भूत' की कल्पना करता है और उसी को उन सबके लिए उत्तरदाई बनाकर निश्चित हो जाता है! पर प्रश्न यह है कि 'भाग्य' नामक यह वस्तु है क्या और कहां रहती है? हम जो कुछ बोते हैं, बस वही पाते हैं। हम स्वयं अपने भाग्य के विधाता हैं। हमारा भाग्य यदि खोटा हो, तो भी कोई दूसरा दोषी नहीं, और यदि हमारे भाग्य अच्छे हों, तो भी कोई दूसरा प्रशंसा का पात्र नहीं। वायु सर्वदा बह रही है। जिन-जिन जहाजों के पाल खुले रहते हैं, वायु उन्हीं का साथ देती है और वे आगे बढ़ जाते हैं। पर जिनके पाल नहीं खुले रहते, उन पर वायु नहीं लंगती। तो क्या यह वायु का दोष है?

कहो कि जिन कष्टों को हम अभी झेल रहे हैं, वे हमारे ही किए हुए कर्मों के फल हैं। यदि यह मान लिया जाए, तो यह भी प्रमाणित हो जाता है कि वे फिर हमारे द्वारा नष्ट भी किए जा सकते हैं। जो कुछ हमने सृष्ट किया है, उसका हम ध्वंस भी कर सकते हैं; जो कुछ दूसरों ने किया है, उसका नाश हमसे कभी नहीं हो सकता। अतएव उठो, साहसी बनो, वीर्यवान होओ। सब उत्तरदायित्व अपने कंधे पर लो—यह याद रखो कि तुम स्वयं अपने भाग्य के निर्माता हो। तुम जो कुछ बल या सहायता चाहो, सब तुम्हारे ही भीतर विद्यमान है।

अपने हाथों अपना भविष्य गढ़ डालो। 'गतस्य शोचना नास्ति'—सारा भविष्य तुम्हारे सामने पड़ा हुआ है। तुम सदैव यह बात स्मरण रखो कि तुम्हारा प्रत्येक विचार, प्रत्येक कार्य संचित रहेगा; और यह भी याद रखो कि जिस प्रकार तुम्हारे असत्-विचार और असत्-कार्य शेरों की तरह तुम पर कूद पड़ने की ताक में हैं, उसी प्रकार तुम्हारे सत्-विचार और सत्-कार्य भी हजारों देवताओं की शक्ति लेकर सर्वदा तुम्हारी रक्षा के लिए तैयार हैं।

—स्वामी विवेकानन्द

अपने स्वरूप को यथायोग्य ढंग से पहचान लेने के बाद प्रेम और प्रसन्नता से उसका अभिनंदन करना, यही आत्म-स्वीकार का अर्थ है। यह आत्म-स्वीकार कोई लाचारी, आलस्य, प्रारब्धवाद अथवा 'जो है सो ठीक', ऐसा खोटा आत्मसंतोष नहीं—परिस्थिति को स्वीकार करने के बाद ही उसे सुधारने के लिए इस मैदान में जूझेंगे, अपने गुण-दोष जानने के बाद ही गुणों की वृद्धि और दोषों को कम करने की ओर हम ध्यान देंगे। हमारे हाथ में जो कुछ है—और बहुत कुछ तो है ही—उस पर आत्मबल के प्रयोग करेंगे और जो हमारे हाथ की बात नहीं, उस पर अनधिकार चेष्टा न करने की मर्यादा भी हम हर्ष से स्वीकार करेंगे।

आत्मबल के प्रयोग सूत्र

✍ फादर वालेस

जन्म से अंधा एक लेखक लिखता है, 'मैं कोई पांच वर्ष का था, तभी मुझे लगने लगा कि दूसरे बालकों से मैं कुछ अलग किस्म का हूँ, मेरी आंखें नहीं। प्रकाश शब्द का जो अर्थ वे करते थे, वह मेरे अर्थ से कुछ भिन्न था। रंगों का नाम रखने के मूल में कोई कारण होना चाहिए, जो मैं समझता न था। लेकिन प्रारंभ में इसका बहुत दुख मुझे न रहता था। भिन्न हो तो हुआ करे, हम भी सही हैं। परंतु आगे चलकर जब अपनी तरुणावस्था का पूरा भान मुझे हुआ, तब मेरा दिल पुकार उठा, 'अब जीवन कैसे जिया जाएगा?' फिर समाधान हुआ। तुरंत तो नहीं, परंतु बहुतेरे आत्म-मंथन और प्रार्थनाओं के फलस्वरूप अंत में मैंने सच्चे दिल से अपने अंधेपन को स्वीकार कर लिया। तभी मेरा सच्चा जीवन आरंभ हुआ और आज समाज में मेरा स्थान है।' इस समाधान या समझौते का नाम ही आत्म-स्वीकार है।

परिस्थिति को स्वीकार करने में केवल भक्तिभाव या काव्य रस की बात नहीं, मनोविज्ञान और व्यक्तित्व-निर्माण का एक अनमोल सिद्धांत भी समाया हुआ है। जो मन और देह मुझे मिले हैं, उन्हीं से मुझे जीवन-भर काम करना है; इनके साथ अच्छा संबंध तो रखना ही चाहिए। शरीर लंबा अथवा ठिगना हो सकता है, चेहरा सुंदर या बेडौल हो सकता है, बुद्धि तेज या मंद हो सकती है। उसमें ज्यादा फेर-बदल होने वाला नहीं। अपने इस स्वरूप के साथ ही, मुझे सबसे पहले और पूरे दिल से समाधान कर लेना चाहिए।

इस आत्मज्ञान के बाद, आत्म-स्वीकार व्यक्तित्व-गठन का दूसरा सोपान है। अपने स्वरूप को यथायोग्य ढंग से पहचान लेने के बाद प्रेम और प्रसन्नता से उसका अभिनंदन करना, यही आत्म-स्वीकार का अर्थ है। यह आत्म-स्वीकार कोई लाचारी, आलस्य, प्रारब्धवाद अथवा 'जो है सो ठीक', ऐसा खोटा आत्मसंतोष नहीं—परिस्थिति को स्वीकार करने के बाद ही उसे सुधारने के लिए इस मैदान में जूझेंगे, अपने गुण-दोष जानने के बाद ही गुणों की वृद्धि और दोषों को कम

करने की ओर हम ध्यान देंगे। हमारे हाथ में जो कुछ है—और बहुत कुछ तो है ही—उस पर आत्मबल के प्रयोग करेंगे और जो हमारे हाथ की बात नहीं, उस पर अनधिकार चेष्टा न करने की मर्यादा भी हम हर्ष से स्वीकार करेंगे।

जो बैल हल में जुते हैं, उन्हीं से तो खेती करनी है!

मन-देह की जैसी जोड़ी है वैसी ही जोड़ी को हांक-हांककर जीवन-क्यारी को सुधारना है और अपने बैल के लिए—भले ही उसमें थोड़ी खराबी क्यों न हो—किसान को कितनी ममता होती है!

आज को सहर्ष स्वीकार कर कल को सुधारने की यह बात है। जैसे फिलहाल तुम्हें महीने के तीन सौ रुपये वेतन में मिलते हैं। ठीक, तीन सौ से पांच सौ और पांच सौ के हजार हों, इसका यत्न जरूर करते रहें, परंतु जब तक तीन सौ ही मिलें, तब तक तीन सौ की मर्यादा में ही निर्वाह करें। झूठा ढोंग करके अथवा कर्जा करके हजार रुपये कमाने वालों की जीवन-पद्धति में खप जाने के लिए बेकार कोशिश न करें।

विधाता ने जो प्रसाद तुम्हारी अंजलि में रखा है, उसे हार्दिक कृतज्ञता से स्वीकार करना चाहिए। सृष्टि की कतार में तुम्हारे आगे-पीछे खड़े हुए दूसरों के हाथ में विधाता ने कितना दिया है, उस ओर ईर्ष्या की दृष्टि डाले बिना यह मानें कि हर एक को अपना-अपना भाग मिला है, और उसमें दुख की मात्रा भी कम नहीं—एक गुलाब के साथ सौ कांटे रहते हैं, सोने के एक कण के साथ रेत के हजार कण मिले रहते हैं। जैसे विजय को अच्छे ढंग से स्वीकारने की कला होती है, वैसे ही हार को हंसते मुंह स्वीकारने की भी कला होती है। यह कला हस्तगत न हो, तो खेल का आनंद चिंता और दुख में पलट सकता है।

'मैं इस चुनाव में खड़ा हूँ, जीवन में प्रथम और अंतिम बार! जीतूंगा तो अपने कर्तव्य का पालन करूंगा और हार गया तो इस धंधे को नमस्कार कर लूंगा।' चुनाव में मत लेने

शेष पृष्ठ 49 पर

वर्तमान समय की सबसे बड़ी समस्या है मानवीय मूल्यों का हास, किंतु उससे भी बड़ी समस्या है मानवीय मूल्यों के प्रति आस्था का अभाव। व्यक्ति अनेतिक है, यह कोई बड़ी बात नहीं है, उसका नैतिकता में विश्वास नहीं है—यह गंभीर प्रश्न है। इसलिए इस सदी का विकास प्रश्नचिह्न बन रहा है। मनोबल की कमी के कारण मानवीय दुर्बलता का शिकार बना व्यक्ति न चाहते हुए भी असद् आचरण में प्रवृत्त हो जाता है। एक अध्यापक नकल न करने का उपदेश देकर स्वयं नकल करवा रहा है। एक सरकारी अफसर रिश्वत को बुरा मानकर स्वयं रिश्वत ले रहा है। एक मिल मालिक सही माल दिखाकर विक्रेता को मिलावट का माल दे रहा है। ऐसे एक नहीं, अनेक कारनामे हैं जहां कथनी और करनी की दूरी है।

सदाचार के सूत्र

साध्वी शुभ्रयशा

प्रकृति में भूकंप कभी-कभी आते हैं। पर मनुष्य के मस्तिष्क में चौबीसों घंटे भूकंप आते ही रहते हैं।

तनाव, घुटन और भागदौड़ की जीवन-शैली ने मनुष्य को अति व्यस्त बना दिया। इस व्यस्तता ने उसे अस्त-व्यस्त कर दिया। इसके कारण मनुष्य के मस्तिष्क की लयबद्धता छिन्न-भिन्न हो गई। मस्तिष्कीय असंतुलन ने मनुष्य के आचार और व्यवहार को बदल दिया।

‘अगं च मूलं च विगिंच धीरे’—महावीर के इस उभयस्पर्शी दृष्टिकोण से विचार करने पर लगता है कि असद् आचार ही बाह्य और आंतरिक भूकंप का कारण बनता है। प्रकृति और मस्तिष्क का संतुलन बनाए रखने के लिए महावीर ने सदाचार का सूत्र दिया। भगवान महावीर अध्यात्म के शिखर पुरुष थे। उन्होंने अपने आपको अध्यात्म चेतना से भावित कर जनमानस की चेतना को झकझोरने वाला दिशाबोध दिया। उनके दर्शन ने युग को आलोक दिया। उस आलोक का आधार विचार और आचार की समन्विति था। महावीर के इस चिंतन को समझने के लिए हमें अपने मस्तिष्क की सोच को अनेकांतिक करना होगा। अनेक दृष्टियों से चिंतन करने पर संभव है कि सत्यांश हमारे हाथ में आ जाए। विषय पर विधिनिषेध-पूर्वक विमर्श करने के लिए आचार के विविध पक्षों पर विचार करना होगा—

1. आचार क्या है? 2. क्यों करता है आदमी आचार का पालन? 3. आचार का आधार क्या है? 4. कभी-कभी एक सदाचारी व्यक्ति अनाचारी क्यों हो जाता है? 5. आचार के संदर्भ में शरीरशास्त्रीय दृष्टिकोण क्या है? 6. 20वीं सदी के विकास पर प्रश्नचिह्न क्यों? 7. आचार की निष्पत्ति या परिणाम क्या है?

आचार क्या है :

आचार शब्द पर अनेक दृष्टियों से विमर्श हुआ है। किसी ने दूसरों के प्रति सम्यक् आचरण को आचार कहा तो किसी ने नैतिकता को आचार मान लिया। पाश्चात्य दार्शनिक सुकरात से पूछा गया—आचार क्या है? सुकरात ने कहा—परम शुभ ही आचार है। आचार्य महाप्रज्ञ ने आचार की जो परिभाषा दी है वह व्यापक और व्यावहारिक है। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार चैतन्य-प्रधान साधन अध्यात्म व संयम-प्रधान साधन धर्म है। अध्यात्म और धर्म की क्रियान्विति आचार है। सर्वांगीण दृष्टि से मीमांसा करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि जीवन के जितने भी शुभ पक्ष हैं, वे सारे आचार में समाविष्ट हो जाते हैं।

क्यों करता है आदमी आचार का पालन ?

आत्मा और पुद्गल के संबंधों पर विजय पाने के लिए व्यक्ति सम्यक् आचरण करता है। वीतराग चेतना का विकास करना सदाचार का उद्देश्य है। यह आचार का दूरगामी लक्ष्य है। प्रश्न है वर्तमान में व्यक्ति श्रेष्ठ आचार क्यों करे?

तृप्तिदं स्वास्थ्यदं शश्वद् चेतः प्रसत्तिकारकम्।

शक्तिदं शान्तिदं पूतं, सारमित्यभिधीयते॥

1. तृप्ति होती है, अंतःतोष होता है। 2. स्वास्थ्य स्वस्थ रहता है। 3. चित्त की प्रसन्नता बढ़ती है। 4. शक्ति व शांति का विकास होता है। 5. पवित्रता का विकास होता है।

उपर्युक्त अमूल्य रत्नों की प्राप्ति के लिए व्यक्ति आचार का पालन करता है।

आचार का आधार क्या है?

सम्यक् आचार के पांच आधारभूत तत्त्व हैं—

1. ज्ञान का विकास। 2. सम्यक् दृष्टि का विकास, विधायक सोच का विकास। 3. सम्यक् क्रिया का विकास। 4. संयम और सहिष्णुता का विकास। 5. शक्ति का विकास।

अज्ञान ही संसार में सबसे बड़ा दुःख है। ज्ञान का विकास हुए बिना सम्यक्-असम्यक् आचार के प्रति क्रमशः उपादेय व हेय बुद्धि का विवेक नहीं हो सकता। विवेकहीन की क्रिया कभी फलदाई नहीं हो सकती। सम्यक् दृष्टि या विधायक चिंतन सम्यक् आचार में प्रवृत्त करने के लिए पथ-दर्शक का कार्य करता है।

वास्तव में सम्यक् दृष्टि ही आचार का सार है। कोरा ज्ञान होने से कभी कोई व्यक्ति पूजनीय नहीं बन सकता। ज्ञान के अनुसार क्रिया करने वाले का अल्पज्ञान भी अलंकरण बन जाता है। संयम और सहिष्णुता श्रेष्ठ आचार की दाईं-बाईं आंख हैं। इनके अभाव में पापाचार, दुराचार से निवृत्ति नहीं हो सकती। वीर्य या शक्ति के बिना कभी कोई बड़ा काम नहीं कर सकता। इसलिए निशीध सूत्र में भाष्यकार ने कहा—

‘ण हु वीरियपरिहीणो पवत्तते णाणमादीसु’

—ज्ञान संपन्न, दृष्टि संपन्न, क्रिया संपन्न, संयम संपन्न, सहिष्णुता संपन्न व्यक्ति ही विकास के ‘ग्राफ’ को ऊपर उठा सकता है।

सदाचारी व्यक्ति अनाचारी क्यों ?

आचार विकृत क्यों होता है ? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। आचार को विकृत करने वाले तत्त्व तीन हैं—कर्म, ग्रह और अंतःसावी ग्रंथियां। इनमें सह-संबंध है। कर्म का उदय आने से सबसे पहला आक्रमण मस्तिष्क पर होता है, जिससे व्यक्ति की सोच विकृत हो जाती है। विकृत चिंतन असम्यक् आचरण की प्रेरणा देता है। ग्रह का प्रभाव व ग्रंथियों के साव मूलतः कर्मोदय के कारण ही प्रभावित होते हैं। असम्यक् आचरण से एड्रीनल, गोनाड्स के साव सक्रिय हो जाते हैं और अकरणीय, अवांछनीय कार्य करने के लिए व्यक्ति बाधित हो जाता है। आचार की पवित्रता से कर्मोदय को मंद किया जा सकता है, अशुभ को शुभ में बदला जा सकता है। इससे ग्रह का प्रभाव क्षीण व ग्रंथियों के साव बदल सकते हैं।

श्रेष्ठ आचार से पीनीयल व पीच्यूटरी को सक्रिय कर एड्रीनल के सावों पर नियंत्रण किया जा सकता है।

आचार के संदर्भ में शरीरशास्त्रीय दृष्टिकोण

महावीर द्वारा प्रतिपादित आगमिक तथ्यों का विज्ञान, मनोविज्ञान और परामनोविज्ञान के संदर्भ में अध्ययन करने से विषय सहज ही बुद्धि-गम्य हो जाता है। शरीरशास्त्रीय दृष्टि से कतिपय अंशों का विवेचन एक नई दृष्टि प्रदान करता है।

आधुनिक शरीर विज्ञान के अनुसार आचार को स्वस्थ बनाए रखने के लिए नाड़ी (ग्रंथि) तंत्र का संतुलन आवश्यक है। जितनी भी मानसिक विकृतियां उत्पन्न होती हैं वे नाडीतंत्र की दुर्बलता व ग्रंथितंत्र के असंतुलन से पैदा होती हैं। नाडीतंत्र शक्तिसंपन्न होने पर मनुष्य का मन भी सबल बन जाता है। सबल मन संकल्प का पक्का होता है। वह अपराधी मनोवृत्ति पर नियमन करने में समर्थ हो जाता है। दुर्बल मन में सम्यक् आचरण करने की क्षमता नहीं होती। अपराधी व्यक्तियों का निरीक्षण करने पर ज्ञात हुआ कि अनेक अपराध नाडीतंत्र के असंतुलन से होते हैं। सम्यक् आचार के लिए शरीर, मन व सावों का संतुलन आवश्यक है। अन्य ग्रन्थों व विचारकों के संदर्भ में भगवान महावीर के विचारों का अध्ययन करने से जो नवनीत प्राप्त होता है वह दुर्लभ है, जो ज्ञान चेतना के साथ-साथ अनुभूति की चेतना को जागृत करने वाला है।

सदी का विकास : प्रश्नचिह्न क्यों ?

20वीं सदी में वस्तुनिष्ठ विकास बहुत हुआ है। उस विकास में अध्यात्म की पुट न होने से वह विनाश का कारण बनने लगा। इसलिए वर्तमान का मनुष्य हिंसक पशुओं से भी खतरनाक बनता जा रहा है। अनाचार से उपार्जित अर्थ भी अर्थाभास है। व्यक्ति का वैचारिक स्तर निर्वीर्य हो रहा है। व्यक्ति समाज में आश्वास और विश्वास की श्वास नहीं ले सकता। मानसिक विकलांगता ने मर्यादा, आचार की सभी सीमाएं तोड़ दीं, इसलिए वर्तमान का विकास, विकासभास बन रहा है, परिणामतः व्यक्ति भयग्रस्त और व्याकुल है।

वर्तमान समय की सबसे बड़ी समस्या है मानवीय मूल्यों का हास, किंतु उससे भी बड़ी समस्या है मानवीय मूल्यों के प्रति आस्था का अभाव। व्यक्ति अनैतिक है, यह कोई बड़ी बात नहीं है, उसका नैतिकता में विश्वास नहीं है—यह गंभीर प्रश्न है। इसलिए इस सदी का विकास प्रश्नचिह्न बन रहा है। मनोबल की कमी के कारण मानवीय दुर्बलता का शिकार बना व्यक्ति न चाहते हुए भी असद आचरण में प्रवृत्त हो जाता है। एक अध्यापक नकल न करने का उपदेश देकर स्वयं नकल करवा रहा है। एक सरकारी अफसर रिश्वत को बुरा मानकर स्वयं रिश्वत ले रहा है। एक मिल मालिक सही माल दिखाकर विक्रेता को मिलावट का माल दे रहा है। ऐसे एक नहीं, अनेक कारनामे हैं जहां कथनी और करनी की दूरी है।

भगवान महावीर ने नया चिंतन दिया। पर्यावरण की समस्या को अतिभोग से नहीं, उपभोग का संयम कर मिटाया जा सकता है। भोगवाद के युग में महावीर का यह चिंतन अर्थशास्त्र को चुनौती देने वाला है।

महावीर ने कहा—परिग्रह की समस्या को गलत तरीके से अर्थार्जन कर दूर नहीं किया जा सकता। परिग्रह का स्वीमांकन कर उस पर निजात प्राप्त किया जा सकता है। ‘अपरिग्रहा भविस्सामो’ का संकल्प हिंसा, भ्रष्टाचार, अत्याचार, दुराचार आदि निषेधात्मक समस्याओं का सकारात्मक समाधान है।

आचार की निष्पत्ति क्या है ?

श्रेष्ठ आचार की निष्पत्ति है महावीर बनना। महावीर बनने का अर्थ है—अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होना। भगवान महावीर और आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के अनुसार—

परमश्रेयसः प्राप्तिः, उद्देश्यं तस्य सम्मतम्।

आत्मैव परमं श्रेयः, आचारेण स लभ्यते।।

आत्मा ही हमारे लिए परम शुभ है। वह आचार से

प्राप्त होती है। आत्मा को प्राप्त करना, अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होना ही श्रेष्ठ आचार की निष्पत्ति है। भगवान महावीर ने श्रेष्ठ आचरण के जो पगोथिए दिए, उनको पार कर हम स्वयं महावीर बनें। तभी हम महावीर का सच्चा अभिनंदन कर सकेंगे।

आओ हम सब हों संकल्पित, घट जाए घटना अकल्पित।

प्रभु चरणों में सदा समर्पित, मन के मनके हों सब अर्पित।।

‘जलपोत का छिद्र कितना खतरनाक होता है।’ आप और हम सभी जानते हैं। यह अनुभूत सत्य है, आचार जितना पवित्र होता है समस्या उतनी ही छोटी होती चली जाती है। भगवान महावीर ने आचार के संबंध में जो बहुमूल्य विचार दिए हैं उनका अनुपालन कर 20वीं सदी में हुए विकास की क्षतिपूर्ति की जा सकती है और इक्कीसवीं सदी को वरदाई बनाया जा सकता है। ❖

आत्मबल के...पृष्ठ 46 का शेष

के लिए आए हुए उम्मीदवार ने मुझसे इस प्रकार कहा। मेरे मन में आया—जो हार को सहर्ष स्वीकार नहीं कर सकता, वह चुनाव में क्यों खड़ा हो? परंतु तुरंत इसकी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ी—एक बार ठोकर लगने पर जो आगे चलने की हिम्मत खो बैठे, वह जीवन-पथ पर पैर क्यों रखे?

एक सज्जन के साथ एक दिन मेरा परिचय हुआ। परिचय कराने वाले मित्र ने बाद में मुझसे कहा, ‘यह इस प्रांत का श्रेष्ठ साहित्यकार है।’ मैंने आश्चर्य प्रकट किया—‘इसकी कोई कृति मेरे देखने में आई हो, ऐसा याद नहीं।’ तब स्पष्ट किया गया कि—‘यह लेखक है, परंतु लिखता नहीं। वर्षों पहले इसने थोड़े लेख और कहानियां लिखी थीं। उत्तम थीं। लेकिन एक विवेकहीन आलोचक ने इसकी एक कहानी की विषम आलोचना की। वह इससे सहन न हुई और तभी से इसका न लिखने का यह व्रत चल रहा है।’ लिखते नहीं—ऐसे लेखक, बोलते नहीं ऐसे वक्ता, खेलते नहीं—ऐसे खिलाड़ी और शोधकार्य करते नहीं—ऐसे अनुसंधानकर्ताओं से दुनिया भरी हुई है। एक आघात वे सह नहीं सके। एक बार जीवन-ज्वाला में जल जाने से, वे चिनगारी से भी धड़कने लगे। रोग तथा दुर्घटना भी ऐसी ही वस्तुएं हैं। सामान्य स्वास्थ्य के नियम-पालन तथा सावधानी के सिवा हमारे पास उनसे बचने का कोई उपाय नहीं। रोग-जंतु कब किस पर हमला करेंगे, इसका कोई मुहूर्त नहीं होता और दुर्घटना तो होती ही अकस्मात् है।

नए पाठ्यक्रम के शुरू होने के पहले दिन एक विद्यार्थी उत्साहपूर्वक कॉलेज जा रहा था। रास्ते में उसकी साइकिल एक मोटरकार के साथ टकराई। बड़ी चोट पहुंची; चीर-फाड़,

दवाइयां और तीन महीने का संपूर्ण आराम—ऐसा डॉक्टर का आदेश हुआ। अब इस उत्साही युवक की मानसिक स्थिति की कल्पना तुम कर सकते हो? हड्डियों की सार-सम्वहल तो डॉक्टर करेगा, परंतु मन की सार-सम्वहल कौन करेगा? मैं उससे मिलने गया, तब उसके हाथ में पाठ्य पुस्तक थी—डॉक्टर की मनाही थी तो भी। मैंने धीरे-से पुस्तक उसके हाथ से ले ली और समझाया—‘दुर्घटना तो हो ही गई। अब उस मोटर मालिक को अथवा अपने भाग्य को कोसना व्यर्थ है। तीन महीने व्यर्थ जाएंगे, अथवा शायद सारा साल बिगड़ेगा; पर इसके लिए रोने-धोने से कोई लाभ नहीं। जो हो गया, वह न हुए जैसा तो होगा नहीं। अब रोने-धोने, व्याकुल होने अथवा भीतर-भीतर जलते रहने से कुछ फायदा नहीं होगा, नुकसान ही होगा। इसलिए हंसते हुए इस स्थिति को स्वीकार करो। परिस्थिति तुम्हारे अनुकूल न हो, तो तुम उसके अनुकूल हो जाओ। डॉक्टर जैसा कहे, वैसा करो। पाठ्य-पुस्तक दूर रखो। नया अनुभव प्राप्त करो। इसमें भी प्रभु के हाथ को परखने का प्रयत्न करो। मन प्रफुल्लित रखो। इस प्रकार जल्दी ठीक हो सकोगे और हो सकता है कि इस वर्ष ही परीक्षा में निकल जाओ।’ और हुआ भी ऐसा ही।

वास्तविकता का स्वीकार—मन-देह का, कुटुंब-समाज का और अपने हाथ में जो-जो न हो उन सबका स्वीकार, यह जीवन-कला का एक मंगलसूत्र है।

अपने इन पैरों की मदद से ही मुझे चलना है। अपनी इन आंखों की मदद से ही मुझे रास्ता खोजना है। अपनी इस बुद्धि की मदद से ही मुझे दिशा निश्चित करनी है। इसका ‘साभार स्वीकार’ ही सफल यात्रा की पहली शर्त है। ❖

उज्ज्वल किरणों का स्पर्श

अध्यात्मशून्य बौद्धिकता और आर्थिक समृद्धि कभी भी मानवता के लिए वरदान नहीं हो सकती। उन्होंने कहा—धर्म और अध्यात्म व्यक्ति को कर्तव्यविमुख नहीं बनाता है। भारतीय चिंतन के इस आदर्श को, धर्म को अणुव्रत आंदोलन ने दैनिक जीवन के साथ जोड़कर जन-जन तक पहुंचाया।

✍ चंद्रकांता सोलंकी

भारत के सांस्कृतिक निर्माण और विकास में आचार्यश्री तुलसी का विशिष्ट योगदान रहा है। कन्याकुमारी से लेकर हिमालय के उत्तुंग शिखरों तक अनेकता में एकता का जो स्वर प्रतिध्वनित हो रहा है, उसमें विभिन्न परंपराओं के संतों की तपस्या का इतिहास छुपा हुआ है। अणुव्रत-अनुशास्ता आचार्यश्री तुलसी इसी परंपरा के तेजस्वी नक्षत्र थे। उनका मानना था कि अध्यात्मशून्य बौद्धिकता और आर्थिक समृद्धि कभी भी मानवता के लिए वरदान नहीं हो सकती। उन्होंने कहा—धर्म और अध्यात्म व्यक्ति को कर्तव्यविमुख नहीं बनाता है। भारतीय चिंतन के इस आदर्श को, धर्म को अणुव्रत आंदोलन ने दैनिक जीवन के साथ जोड़कर जन-जन तक पहुंचाया। धर्म और जीवन के बीच की खाई को मिटाने के ऐतिहासिक और प्रेरणादायक प्रयोग अणुव्रत के माध्यम से हुए। शिक्षा, व्यापार, राजनीति, प्रशासन तथा जन-सेवा आदि जीवन के सभी क्षेत्र—सत्य, अहिंसा, और अनुशासनमय धर्म के मौलिक आदर्शों से अनुप्राणित हों— यह अणुव्रत के अभियान का मुख्य अभिप्रेत बना। अणुव्रत-अनुशास्ता आचार्यश्री तुलसी ने अपने विशाल धर्म-संघ को अणुव्रत की आध्यात्मिक और नैतिक ज्योति प्रज्वलित करने हेतु प्रेरित और प्रोत्साहित किया।

आचार्यश्री तुलसी ने 2 मार्च, सन् 1949 को सरदारशहर में समाज के एक-एक व्यक्ति के भीतर की अवांछनीयताओं, बुराइयों को छोड़ देने का व्यापक रूप से संकल्प अभियान चलाया। हमारा देश एक विशाल देश है, आज जिसकी जनसंख्या एक अरब से ऊपर हो गई है।

इस देश में अनेक पंथ हैं, अनेक जातियां, अनेक भाषाएं और अनेक बोलियां हैं, फिर भी अनेकता में एकता है। दूसरी ओर आज भी व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और समूची दुनिया आसुरी प्रवृत्तियों से, अपने ही भीतर की असुरक्षा की भावना से बुरी तरह से आतंकित है। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक चारित्रिक और व्यावहारिक—हर स्तर पर समाज में चारों

ओर विकृतियां ही विकृतियां नजर आ रही हैं, ऐसी विकट परिस्थितियों से उबरने के लिए सबसे सहज व एकमात्र विकल्प अणुव्रत हो सकता है।

आचार्यश्री तुलसी ने पांचसूत्रीय व्रतों से अणुव्रत आंदोलन को आरंभ किया। बाद में इसकी रूपरेखा विशाल और विस्तृत होती गई। भाईचारा, शिक्षा-पद्धति में सुधार, लोकतंत्र में शुद्धि, नशामुक्ति और अश्लीलता निवारण आदि सूत्रों से देश की समस्याओं का समाधान हो सकता है। प्रत्येक व्यक्ति यदि इन सूत्रों के वास्तविक अर्थ और ध्येय को समझ ले और चिंतन-मनन करे तो वांछित परिणाम अवश्य ही प्राप्त हो सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं से आरंभ करके समस्त विश्व को आलोकित कर सकता है। 'संयम ही जीवन है' और 'निज पर शासन फिर अनुशासन' जैसे सूत्र प्रत्येक पारिवारिक इकाई से आरंभ होकर राष्ट्रव्यापी आंदोलन के रूप में सामने आए।

आचार्यश्री तुलसी ने शिक्षा को भी बहुआयामी माना। उस शिक्षा का कोई मूल्य नहीं रहता जो विषमताओं को दूर न कर सके। शिक्षा जगत में आचार्यश्री तुलसी की प्रेरणा से आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने जीवन-विज्ञान की अभिनव अवधारणा प्रदान की। जीवन-विज्ञान से तात्पर्य है—संतुलित-शिक्षा प्रणाली। संतुलित-शिक्षा-प्रणाली के द्वारा ही संतुलित व्यक्तित्व और संतुलित समाज का निर्माण संभव है। आचार्यश्री तुलसी की मान्यता थी कि समाज की आधारभूत इकाई मनुष्य है और मनुष्यों से ही समाज का निर्माण होता है। इसलिए यदि मनुष्य सुधर जाएगा तो समाज एवं राष्ट्र का निर्माण अपने आप हो जाएगा।

महाप्रयाण दिवस पर विशेष

देश के पहले स्वतंत्रता दिवस पर अणुव्रत-अनुशास्ता आचार्यश्री तुलसी ने 'असली आजादी अपनाओ' गीत के माध्यम से देशवासियों को चरित्रनिष्ठ जीवन के लिए उत्प्रेरित किया। सैकड़ों व्यक्तियों ने एक साथ अणुव्रत का संकल्प स्वीकार किया। इसी क्रम में सारे संसार में भी अणुव्रत की गूंज पहुंची। राष्ट्र के नैतिक अभ्युदय में तो आचार्यश्री तुलसी का

अहर्निश योगदान सदैव अविस्मरणीय रहेगा। आंखों से अमृत का निर्झर बहाने वाले संत तुलसी को भारतीय जनता ने एक विलक्षण संत-योगी, यायावर और समाज-सुधारक के रूप में देखा। वहीं दूसरी ओर अणुव्रत की स्थापना के साथ समाज के रूढ़िग्रस्त लोगों में एक बार विपरीत प्रतिक्रिया भी हुई। कुछ लोगों ने कहा—हरिजन हमारे धर्मस्थान में प्रवेश नहीं कर सकते। उन्होंने न केवल डर ही दिखाया, अपितु कई प्रकार के भय-प्रलोभन से हरिजनों को धर्मस्थान में जाने से भी रोका। परंतु आचार्यश्री तुलसी ने कहा—‘हम जिस स्थान में रहते हैं, उस पर किसी जाति विशेष का अधिकार नहीं हो सकता। हरिजनों को वहां आने से रोकने का अर्थ है—हमें वहां रहने से रोकना।’ आचार्यश्री की यह दृढ़ता देखकर लोगों का विरोध जहां से उठा था वहीं शांत हो गया। न केवल हरिजन धर्मस्थान में आए, बल्कि आचार्यश्री स्वयं तथा उनके शिष्य हरिजन बस्तियों में जाने लगे। एक बार एक मंदिर में आचार्यश्री पधारे, उनके साथ कुछ हरिजन भी वहां पहुंच गए। गांव के लोगों ने उस पर एतराज किया। आचार्यश्री ने कहा—‘यदि हरिजनों को अंदर आने से रोका गया तो मैं भी बाहर से ही चला जाऊंगा।’ अनेक बार इसी कारण आचार्यश्री के शिष्यों को महाजनों का मकान भी छोड़ना पड़ा, पर भेदभाव को प्रश्रय नहीं दिया। लोगों ने न केवल उनका तिरस्कार किया, अपितु भिक्षा भी नहीं दी, पर उन्होंने भेदभावमूलक जातिवाद से समझौता नहीं किया। मर्यादा महोत्सव के पंडाल में हरिजन नहीं बैठ सकते—जब यह बात सामने आई तो आचार्यश्री ने कहा कि यदि हरिजन पंडाल में नहीं बैठ सकते तो मर्यादा महोत्सव भी दूसरी जगह पर कर लेंगे। आचार्यश्री का ऐसा दृढ़ रुख देखकर आखिरकार श्रावकजन भी मान गए। हरिजनों में काम करने के लिए उन्होंने संस्कार निर्माण समिति का गठन किया। लोगों में व्याप्त हीन संस्कारों को बदलने का कार्य शुरू किया गया। विशेष रूप से व्यसनमुक्ति का अभियान चलाया गया—जिसमें हजारों-हजारों जनों ने अपने खान-पान को विशुद्ध बनाकर कुव्यसनो और हीन भावना से मुक्ति पाई।

आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत की ज्योति प्रज्वलित कर विश्व के समक्ष इस सत्य को नए संदर्भ में प्रस्तुत किया कि धर्म और अध्यात्म का तात्पर्य कर्तव्य-विमुखता नहीं है। धर्म को अणुव्रत आंदोलन के साथ जोड़कर उसे जन-जन तक पहुंचाया। संघ प्रमुख का दायित्व संभालने के साथ ही आचार्यश्री ने अपने अंतरंग और संधीय पक्षों को ठोस रूप देने में ग्यारह वर्ष लगा दिए। जब उन्हें अपने बहुमुखी कर्तृत्व पर पूरा भरोसा हो गया तब उन्होंने अपने दृष्टिकोण को

व्यापकता प्रदान की। एक समय था कि जीवन को अध्यात्म से अनुप्राणित करने के लिए ही धर्म को आवश्यक माना जाता रहा था, किंतु नई दृष्टि का आविर्भाव होते ही उन्होंने कहा—‘धर्म का काम है बुराई मिटाना’, फिर चाहे उसका संबंध वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि किसी भी क्षेत्र से क्यों न हो। पर्दा प्रथा जैसी सामाजिक कुरूढ़ि को छोड़ने के लिए उन्होंने आह्वान किया। पीढ़ियों से घूंघट में कैद नारी जाति का शौर्य जाग उठा। इस प्रकार यह माना जाने लगा कि आचार्यश्री तुलसी मानव कल्याण को समर्पित महान आत्माओं की शृंखला में ही एक प्रकाश स्तंभ-स्वरूप अवतीर्ण हुए हैं जिन्होंने अपने सुदीर्घ सेवाकाल में जन-जन में प्राण फूँके और प्रेरणा दी। जो चेतना एवं जागृति उन्होंने दी। वह आज भी अणुव्रत आंदोलन के रूप में हमारा मार्गदर्शन कर रही है। सभी जानते हैं कि अणुव्रत का मूल तात्पर्य छोटी-छोटी बातों पर ध्यान देना है, यानी सागर की चिंता छोड़ें, एक बूंद पर ध्यान दें। नैतिक मूल्यों का विकास कर व्यक्ति का चरित्र निर्माण करना अणुव्रत आंदोलन का आज भी मूल उद्देश्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ‘अणुव्रत’ मानव जीवन के समग्र विकास का साधन स्वरूप है। आचार्यश्री तुलसी ने एक स्थान पर लिखा है—‘अणुव्रत का दृष्टिकोण मुख्य रूप से व्यक्ति-निर्माण अथवा व्यक्ति के चरित्र-निर्माण का है। समाज-संरचना का संकल्प उसके सामने खंड के रूप में है।’ वे कहते थे—‘किसी भी प्रवृत्ति, कार्यक्रम, संस्था, समाज अथवा राष्ट्र का संचालन करने वाला अंततः व्यक्ति ही होता है। अतः यदि व्यक्ति का चरित्र-निर्माण नहीं होगा तो अच्छी से अच्छी व्यवस्था भी लड़खड़ा जाएगी। व्यक्ति के चरित्र निर्माण का प्रयत्न बुनियादी आवश्यकता है।’ अणुव्रत इस सचाई को सामने रखकर चल रहा है। उसकी घोषणा है—‘सुधरे व्यक्ति—समाज व्यक्ति से, राष्ट्र स्वयं सुधरेगा।’ व्यक्ति के सुधार से ही समाज का सुधार संभव है और समाज-सुधार की शृंखला ही राष्ट्र-सुधार की दिशा में आगे बढ़ती है। समाज और राष्ट्र का निर्माण पूरी तरह से व्यक्ति के निर्माण पर टिका हुआ है।

आचार्यश्री तुलसी तिरासी वर्ष की अवस्था में चिरनिद्रा में मौन हो गए। अब वे हमारे मध्य सदेह नहीं हैं, पर उनके शब्द और सिद्धांत आज भी जीवित हैं, जो हमें उज्ज्वल किरणों का स्पर्श कराते हैं। अणुव्रत एक क्षण में जहां करोड़ों को क्षत-विक्षत कर सकता है, वहीं अणुव्रत करोड़ों जनों का उद्धार कर सकता है। ❖

उसे लगा कि कहीं यह धूर्तों की नगरी तो नहीं है। उसने सोचा कि मुझे लौट जाना चाहिए, लेकिन मन में कौतूहल भी था। भला इस देश में कैसे लोग रहते हैं जिनकी इतनी कहानियां हैं?

धूर्त नगरी

मनोज दास

बरसों पुरानी बात है, दूर किसी देश में एक व्यापारी और उसका लड़का रहते थे। लड़के का नाम था अर्जुन। एक दिन व्यापारी ने उसको बुलाकर कहा, 'बेटा! मेरे पास बड़ी अच्छी नस्ल के दो घोड़े हैं। मैंने उनकी बहुत देखभाल की है। इनको किसी ऐसी जगह ले जाकर बेचा जाए जहां अच्छे घोड़े न मिलते हों, तो एक घोड़ा कम से कम सौ मुहरों में बिके। धुर दक्षिण में ऐसा एक देश है। पर मैं बूढ़ा हो गया हूं, इतनी लंबी यात्रा मैं नहीं कर सकता। तुममें अगर साहस है तो ये घोड़े मैं तुम्हें दे सकता हूं। दक्षिण का राजा इनका और भी अधिक मोल देगा, क्योंकि वहां इस नस्ल के घोड़े दुर्लभ हैं।'

यह सोचकर कि दूर-दूर देशों की यात्रा करने को मिलेगी, अर्जुन उत्साह से भर गया। तभी उसके पिता ने चेतावनी देते हुए कहा, 'पश्चिम दिशा में भूल से भी कदम मत रखना। अगर भूले-भटके भी उधर निकल गए तो धूर्तों के देश में जा पड़ोगे। उनके चंगुल से बचकर आज तक कोई नहीं निकला। एक बार मैं भी भुगत चुका हूं और आज तक पछता रहा हूं।'

अर्जुन के बहुत कहने पर उसके पिता ने बताया— 'तुम्हें शायद याद न हो। तुम छोटे-से थे और अपने भाई के साथ खेला करते थे। पंद्रह बरस हुए व्यापार के सिलसिले में मुझे बाहर जाना पड़ा। तुम्हारे बड़े भाई को भी साथ लेता गया। तब वह चौदह साल का था। मैंने सोचा कि दूर देशों की यात्रा से और लोगों का रहन-सहन देखने से उसे अच्छी शिक्षा मिलेगी, लेकिन हमारा दुर्भाग्य! जब हम घर लौट रहे थे तो भूले से उस अनजान देश में चले गए। सांझ हो रही थी, इसलिए रात हमने एक सराय में बिताई। वहां के लोगों के आचार-विचार और बातचीत से ऐसा लगा कि हो न हो, उसी धूर्तों की नगरी में आ फंसे हैं, जिसके कई किस्से मशहूर हैं। मैं

इस चिंता में था कि कैसे, जितनी जल्दी हो सके, वहां से निकल भागा जाए।

अगले दिन तड़के जैसे ही सराय के मालिक को किराया चुका रहा था, उसका भाई दौड़ा-दौड़ा वहां आया। वह सिर पीट-पीट कर रो रहा था। उसकी पत्नी के मरा बच्चा हुआ था। इसके लिए वह मुझे दोषी ठहरा रहा था। मेरे आश्चर्य का ठिकाना न था।

धूर्त ने कहा, 'कल शाम जब तुम घोड़े से उतरे तो बहुत तेज-तेज सांस ले रहे थे। उस समय एक कीड़ा, जो सराय से उड़कर बाहर जा रहा था, तुम्हारी तेज सांस के झोंके से पलटकर सराय के उस कमरे में आ गया, जहां मेरी पत्नी थी। उसके बच्चा होने वाला था। कीड़ा उसकी नाक में घुस गया और उसे जोर से छींक आ गई। छींक आई तो उसके पेट का बच्चा मर गया।'

इससे पहले कि मैं इस विचित्र इल्जाम का जवाब देता, वहां एक भीड़ जमा हो गई। हर कोई उसी आदमी का पक्ष ले रहा था। मैं बिल्कुल चकरा गया। देखते-ही-देखते वह तुम्हारे भाई को मुझसे छीन ले गए। बेचारा मेरा बेटा आज तक उनकी गुलामी कर रहा होगा।'

इन सब घटनाओं को सुनाते हुए बूढ़े की आंखों में आंसू भर आए। अपने पिता के दुख से उदास होकर अर्जुन ने कहा, 'मैं प्रण करता हूं पिताजी, कि धूर्तों की नगरी के निकट मैं कभी नहीं जाऊंगा।' इसके बाद अर्जुन दोनों घोड़े लेकर दूर दक्षिण के उस देश की ओर चल पड़ा।

कुछ दिनों बाद रास्ते में एक नदी मिली। नदी में बाढ़ आई हुई थी। मल्लाहों ने अपनी छोटी नावों में घोड़ों को ले जाने से इनकार कर दिया। साथ ही यह भी बताया कि अगर वह पश्चिम की ओर जाए तो उसे बड़ी और

मजबूत नौका वाला एक मल्लाह मिलेगा जो घोड़ों समेत नदी पार करा सकेगा। अर्जुन पश्चिम की ओर चल पड़ा। तभी बड़े जोर का तूफान आया। सिर छुपाने की कोई जगह ढूँढ़ने के लिए उसने इधर-उधर देखा। तभी उसे निकट की एक पहाड़ी के उस ओर धुआं उठता दिखाई दिया। अपने दोनों घोड़ों की लगाम को मजबूती से थामे, संभल-संभलकर कदम रखते हुए वह पहाड़ी पर चढ़ गया। तूफान अभी-अभी थमा था। अर्जुन ने पहाड़ी से नीचे झांका तो एक गांव दिखाई दिया।

क्योंकि वह पश्चिम दिशा में काफी दूर निकल आया था, उसे लगा कि कहीं यह धूर्तों की नगरी तो नहीं है। उसने सोचा कि मुझे लौट जाना चाहिए, लेकिन मन में कौतूहल भी था। भला इस देश में कैसे लोग रहते हैं जिनकी इतनी कहानियां हैं? पहाड़ी के किनारे से नीचे अच्छी तरह नजर डालने के लिए जैसे ही वह झुका, उसका पांव फिसल गया और वह लुढ़कता हुआ सीधा, सिर के बल, नीचे गांव में जा गिरा। उसके घोड़े भी तेजी से उतरकर उसके पास आकर खड़े हो गए।

एक बूढ़ा, जो उधर से गुजर रहा था, दौड़ा-दौड़ा उसके पास आया। अर्जुन खड़ा हो गया। भाग्य से उसे कोई बड़ी चोट नहीं आई थी। उसे यह देखकर खुशी हुई कि वह बूढ़ा उसकी ओर बड़े ध्यान से देख रहा है। उसने मन में सोचा—‘धूर्तों के इस देश में भी ऐसे लोग हैं जो दूसरों का खयाल करते हैं।’ अर्जुन उसको धन्यवाद देने ही वाला था कि बूढ़े ने अचानक जोर-जोर से रोना-चिल्लाना शुरू कर दिया।

बूढ़ा सिर पीट-पीटकर रो रहा था—‘हाय मेरे प्यारे नन्हे मेंढक! ओ मेरे बच्चे! मैं तेरी मौत का बदला कैसे लूं!’ अर्जुन को कुछ समझ में नहीं आया। कैसा मेंढक, कौन-सा मेंढक? उसका विलाप सुनकर गांव वाले इकट्ठे होने लगे। लोग अजीब-सी भाषा में बूढ़े से कुछ कह रहे थे। फिर अर्जुन की ओर मुड़कर उन्होंने समझाया—‘बेचारे बूढ़े के कोई संतान नहीं है। एक मेंढक को ही इसने गोद ले रखा था। यह पालतू मेंढक अपनी पितृ-भक्ति के लिए मशहूर था। बूढ़ा भी उस पर जान देता था। इसमें शक नहीं कि पृथ्वी के सबसे अद्भुत मेंढक के मर जाने से बूढ़े का दिल टूट गया है। अब दुनिया में उसका कोई नहीं।’

जल्दी ही गांव के और भी लोग वहां इकट्ठे हो गए और लगे रोने-पीटने। अर्जुन की अकल काम नहीं कर रही थी। वह किसी तरह वहां से भाग निकलना चाहता था। उसने पूछा कि बूढ़े को कैसे शांत किया जाए?

तभी एकदम बूढ़ा बोल उठा, ‘मुझे दोनों में से एक घोड़ा दे दो।’

‘मेंढक के बदले में एक घोड़ा?’ अर्जुन ने तुनक कर पूछा।

बूढ़े ने कहा, ‘नौजवान! मुझे तुम्हारी बात समझ में नहीं आई। क्या एक घोड़ा बेटे से ज्यादा कीमती होता है?’

अर्जुन ने बहुत बहस की, लेकिन वह अकेला क्या करता? आखिर उसे एक सुंदर घोड़ा उस धूर्त के हवाले करना पड़ा। अर्जुन उस गांव से निकला तो बहुत दुखी था। इस बार पहाड़ी पर चढ़ना उसके लिए दूभर था। वह थोड़ी दूर पैदल गया कि पहाड़ी के दूसरी ओर जाने का रास्ता दिख जाए।

वह एक और गांव में जा पहुंचा। वह बहुत भूखा था। सबसे पहले जो घर सामने आया उसी का द्वार जा खटखटाय। एक काने आदमी ने दरवाजा खोला। अर्जुन ने उससे कुछ खाने-पीने को मांगा। इस पर काना बोला, ‘खाने को मेरे पास कुछ नहीं, पीने को चाहो तो भर पेट पानी पिला सकता हूं। और तुम्हें तो किसी तरह अपना पेट ही भरना है न?’

अर्जुन ने पानी पिया और उसको धन्यवाद दिया। जैसे ही वह चलने लगा, काने ने उसके बाप का नाम पूछा। अर्जुन के बाप का नाम सुनते ही काने ने उसका बाजू पकड़ लिया। बोला, ‘तो आखिर तुम मुझे मिल ही गए। सुनो नौजवान, बीस बरस हुए तुम्हारे देश में व्यापार के लिए गया था। दुर्भाग्य से मेरा सारा रुपया चोरी हो गया। मैं तुम्हारे बाप को अच्छी तरह से जानता था। मैंने उससे दो मोहरें उधार मांगी। उसने उधार देना मान तो लिया पर कोई जमानत मांगी। उस समय मेरे पास कुछ नहीं था। इस पर तुम्हारा बाप बोला कि और कुछ नहीं तो अपनी एक आंख गिरवी रखते जाओ। मुझे पैसे की सख्त जरूरत थी। मैंने उसे एक आंख निकाल कर दे दी। तुम्हारे बाप ने वायदा किया था कि एक साल बाद हमारे इस देश में आएगा और मेरी आंख लौटा

देगा। इस बात को बीस बरस हो गए। आज तुम मुझे मिले हो। लाओ, मेरी आंख लौटाओ। बेटे को बाप का ऋण चुकाना पड़ता है। तुम्हारे बाप से जो दो मुहरें ली थीं, लौटाने को तैयार हूं। ब्याज में तीसरी मुहर भी दे दूंगा। लेकिन मेरी आंख लौटानी पड़ेगी।’

देखते ही देखते काने के कई दोस्त जमा हो गए। अर्जुन रुआंसा हो कर बोला, ‘मुझे तुम्हारी आंख के बारे में कुछ मालूम नहीं। अब मुझे जो करना है सो बता दो और मुझे जाने दो।’

‘तुम जा सकते हो, लेकिन अपने घोड़े के बगैर’—काने ने उत्तर दिया। अर्जुन को अपना घोड़ा छोड़ना पड़ा। बेचारे का हाल बुरा था। पहाड़ी से नीचे गिरने के कारण सारे शरीर में पीड़ा थी, दोनों कीमती घोड़े खोने के कारण उसका मन दुख से भरा था। भूख से निढाल होने के कारण उससे चला भी नहीं जा रहा था। एक पेड़ के नीचे बैठकर वह रोने लगा। तभी एक नवयुवक उधर से निकला। उसे देखकर पूछने लगा, ‘तुम कौन हो भाई? रो क्यों रहे हो?’

अर्जुन ने कोई उत्तर नहीं दिया। उसे तो अब इस देश में किसी से बात करते हुए भी डर लगता था। लेकिन नौजवान आसानी से टलने वाला नहीं था। देखने में दयालु भी लगता था। अर्जुन ने सारा किस्सा कह सुनाया कि कैसे उसके दोनों घोड़े छीन लिए गए। नवयुवक थोड़ी देर चुप रहा, फिर बोला, ‘चलो राजा के पास चलें, तुम्हारे घोड़े मैं तुम्हें दिलवा के रहूंगा।’

अर्जुन पहले तो हिचकिचाया, मगर उसके पास था ही क्या जिसे खोने का डर होता। वह उसके साथ राज दरबार की ओर चल दिया। रास्ते में वह अर्जुन को समझाता गया कि राजा से क्या कहना है।

अर्जुन की फरियाद सुनकर राजा ने बूढ़े और काने को बुलवाया। जांच शुरू हुई।

बूढ़े ने बताया कि किस तरह उसने मेंढक को गोद लिया था और वह अर्जुन के शरीर के नीचे दबकर मर गया था। बूढ़े का बयान खत्म हो गया तो अर्जुन ने एक जीवित मेंढक अपनी पगड़ी में से निकाला। राजा से उसने कहा, ‘महाराज! मैंने इस मेंढक को गोद लिया है। अब मैं इसे पहाड़ी के नीचे रख आता हूं। बूढ़े से कहा जाए कि वह भी चोटी पर से उसी तरह लुढ़के जैसे मैं

लुढ़का था और मेरे मेंढक-पुत्र पर गिरकर उसे मार डाले।’

राजा राजी हो गया। बोला, ‘बात जंचती है। बहुत अच्छा सुझाव है। बूढ़े की समस्या का यही एक हल है।’

भला बूढ़ा इसके लिए क्यों तैयार होता? बिना एक शब्द कहे, अर्जुन को उसने घोड़ा लौटा दिया और जान बचाकर खिसक गया।

अब काने के मुकदमे की बारी थी। अपनी सफाई पेश करते हुए अर्जुन ने कहा, ‘इसमें कोई संदेह नहीं महाराज कि मेरे पिता के बड़े विचित्र मन-बहलाव थे। इनमें से एक शौक लोगों की आंखें जमा करने का भी था। हमारे गोदाम में ऐसी सैकड़ों आंखें रखी हैं। मैं इस आदमी की आंख लौटाने को तैयार हूं, पर मेरे लिए आंखों के ढेर में से इसकी आंख को ढूंढ़ निकालना मुश्किल काम है। कैसे पहचानूंगा भला? मैं यह तभी कर सकता हूं, अगर मैं इसकी दूसरी आंख भी निकाल कर ले जाऊं, और गोदाम में इसके जोड़ की दूसरी आंख छांट कर निकालूं। आज्ञा हो तो मैं इसकी यह आंख भी काटकर निकाल लूं।’

‘वाह! कितना बढ़िया सुझाव है’, राजा ने प्रशंसा करते हुए कहा। काना भला अपनी बची-खुची एक आंख देने को कैसे तैयार होता? बिना कोई हील हवाला किए अर्जुन का घोड़ा उसने लौटा दिया।

इसके बाद उस नवयुवक ने अर्जुन से कहा, ‘आओ, मैं तुम्हें इस देश की सरहद तक छोड़ आऊं ताकि तुम्हें किसी और मुसीबत का सामना न करना पड़े।’

चलते-चलते बातों ही बातों में, अर्जुन को पता चल गया कि वह नवयुवक और कोई नहीं, उसका खोया हुआ भाई ही है। जिस धूर्त मालिक और मालकिन ने उसे दास बनाकर रखा था, वे अभी हाल ही में मर गए थे। तभी से वह अपने देश लौटने का मौका ढूंढ़ रहा था। धूर्तों के बीच इतने वर्ष रहकर वह जान गया था कि उनसे कैसे निबटना चाहिए।

अब दोनों भाई धूर्त नगरी से बाहर निकल आए। दोनों दक्षिण की ओर गए। अपने घोड़ों को ऊंचे दामों पर बेचा और घर लौट आए। दोनों बेटों को पाकर बाप निहाल हो गया। ❖

जैन भारती पाठक पहेली

नियम

1. यह पहेली जैन भारती के मार्च, 2001 अंक में प्रकाशित सामग्री पर आधारित है, अतः इस पहेली के उत्तर जैन भारती के मार्च अंक की सामग्री पर आधारित होने चाहिए। 2. प्रकाशित पहेली के हल/उत्तर दिनांक 10 जुलाई, 2001 तक जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर पहुंच जाने चाहिए। प्रत्येक प्रविष्टि पाठक पहेली प्रारूप में ही भरी होनी चाहिए। 3. अधूरे भरे हुए या देर से पहुंचे हलों पर विचार नहीं किया जाएगा। कटी-फटी प्रविष्टियां स्वीकार नहीं की जाएंगी। 4. इस पहेली के सही हल और विजेताओं के नाम अगस्त, 2001 के अंक में प्रकाशित किए जाएंगे। 5. सर्वशुद्ध हलों में से पुरस्कार का चयन लाटरी-पद्धति द्वारा होगा। प्रतियोगिता में पुरस्कार विजेताओं के बारे में संपादकीय निर्णय अंतिम होगा। इस बाबत कोई पत्र-व्यवहार नहीं किया जाएगा। चयनित प्रथम प्रतियोगी को 151 रुपये का साहित्य अथवा नकद राशि पुरस्कार स्वरूप दी जाएगी, जबकि सर्वशुद्ध हल वाले प्रथम दस प्रतियोगियों को जैन भारती एक साल तक सम्मानार्थ भेजी जाएगी। 6. एक लिफाफे में एक से अधिक प्रविष्टियां भी भेजी जा सकती हैं, लेकिन हर एक प्रविष्टि के साथ कूपन संलग्न करना अनिवार्य है। जिरोक्स (छायाप्रति) या प्रतिलिपि स्वीकार नहीं की जाएगी। 7. लिफाफे पर एक कोने में 'जैन भारती पाठक पहेली' अवश्य लिखा होना चाहिए।

1		2		3	4		5		6
				7					
		8	9			10		11	
12					13				
		14					15		16
	17		18			19			
20								21	
					22		23		24
					25				
26			27				28		

प्रविष्टि कूपन

जैन भारती पाठक पहेली-0016

नाम प्रतियोगी.....उम्र.....

पूरा पता.....

.....

.....

बाएं से दाएं

1. परिवार और समाज के लिए.....गतिविधियों पर ध्यान दें [3]
3. साधु-संन्यासियों में भी उसकी बड़ी.....थी [2]
5. व्यक्ति शरीर-विकास, शरीर-....., शरीर-रक्षण और शरीर-शोधन [3]
7. मेरी प्रार्थना.....और उसे स्वीकार कर [2]
8. पूरी.....पूरा विश्राम कर रही थी [3]
10. भगवान महावीर ने कहा—'.....से आत्म-नियंत्रण शुरू करो [4]
12. निष्कासन और पाचनक्रिया अच्छी बनी रहती है [2]
14. पर विजय अर्थात् अपने चित्त में उठने वाली वृत्तियों पर विजय [1]
15. कोई सपना इतना हल्का नहीं होता कि.....बन जाए [3]
18. यदि मैं मर गई तो वृद्धा.....की सेवा कौन करेगा [2]
19. अथवा किस ढंग से मनुष्य उनके साथ संबंध..... सकते [2]
20. साध्वीवृंद की ओर से सेवा का.....प्रदान करने का [4]
23. वे अपने जीवन-.....के लिए आभूषणों और कीमती वस्त्रों [3]
25. प्रतिभासित होगा कि अध्यात्म का.....तंत्र, [3]
26. जब वह देवकुलीश की इस दीन.....को देखती थी [2]
27. असंतुलन को नहीं रोका गया तो इसमें.....भी संदेह नहीं है [3]
28. कोशिकाओं का पोषण, संवर्धन,.....और मरम्मत होती है [3]

ऊपर से नीचे

1. समर्पित करते हुए.....समुदाय की ओर से निर्मित [2]
2. अत्यंत कठोर.....तप धारण करके जीवन व्यतीत करते हैं [3]

3. क्रोधातुर, भयानक,.....आकृतियों का चित्रण करना [3]
4. 1, प्रकाशन..... [2]
5. योग [3]
6. जैसे संसार में एक प्रकार का प्रकाश फैल गया है [3]
9. जैसे फिरकी लट्टू की.....सूक्ष्म होती है [2]
11. आंध्रप्रदेश की महिलाओं ने.....के खिलाफ एक आंदोलन शुरू किया [3]
12. अनुप्रेक्षा के द्वारा.....में उठने वाली हिंसा की तरंगों को समाप्त कर [2]
13. महावीर का एक.....रग-रग से ध्वनित हो जाए [2]
15. विलिखंति कर्म क्षेत्र.....दुख फलयोग्य कलुषयंति [2]
16. 'धूल में लट्टू मारने' या कि '.....में लाठियां भांजने' जैसी प्रतिक्रियाएं भी होती रही हैं [2]
17. दसानी गर्ग की.....प्रकाशित कृतियां भी आचार्यश्री महाप्रज्ञजी को भेंट की गईं [2]
18. श्री तुलसी ने पंचसूत्रम् में बहुत.....शब्दों में कहा है [5]
19. भावी पीढ़ी के लिए एक गौरवमय अध्याय.....जा सकेगा [2]
20. जब आदत डालो तो कोई.....मत रखो [4]
21. दसवैकालिक की.....में कुछ बेलों का नाम कषाय है [2]
22. यदि मैं न रहूंगी, तो वे बेचारे सिसक-.....कर अपने प्राण [3]
23. पर्यावरण की समस्या पर.....करने वाले असंयम की दिशा में अग्रणी हैं [3]
24. अलग-अलग कार्यक्षेत्रों के लिए साधु-साध्वियों,..... समणियों को दायित्व सौंपे [3]

जैन भारती पाठक पहेली - 0014

सर्वशुद्ध हल व विजेताओं के नाम

1 वै	2 वि	ध्य		3 सं	4 घ		5 अ	प	6 नी
7 ज्ञा	न		8 प्र	क	र		के		ली
9 नि	य	10 म		ट		11 क	ला		
क		ग				धी		12 थी	13 रा
	14 सा	ध	ना		15 धा	र	णा		य
				16 भ					
17 बे	18 स			19 ग	ण		20 चर		21 दी
	वों		22 धा	व		23 उ	पा	24 स	ना
25 उ	त्त	र		ती		प		26 स्व	र
	म				27 ली	ल		र	

प्रथम चयनित विजेता—रणजीता पालगोला, कोप्पल

अन्य दस चयनित विजेता

1. ज्योति बोथरा, बीकानेर
2. उम्मेदसिंह दूगड़, लाडनूं
3. संतोष सोलंकी, बैंगलोर
4. कमला पालगोला, कोप्पल
5. अभिलाषा कोठारी, नासिक
6. महावीरकुमार दूगड़, लुहारिया
7. रितु बोहरा, अजमेर
8. झिणकारदेवी बोथरा, श्रीदुंगरगढ़
9. चम्पादेवी आंचलिया, बोलपुर
10. निर्मलकुमार बडौला, दौलतगढ़

जैन भारती पाठक पहेली के सभी पुरस्कार (प्रारंभ से ही) बंशीलाल श्रीमाल चैरीटेबल ट्रस्ट तिरपाल उद्योग, फैसी बाजार, गुवाहाटी (असम) के सौजन्य से।

With best compliments from :



AMIT - SYNTHETICS

Shop : W-3207, Surat Textile Market

Office : 402, Anand Market, Ring Road

SURAT 395002

Phone : 622076, 625680, 622027 Fax : 0261-636651

Pemchand Chopra Charitable Trust

W-3207, Surat Textile Market

Ring Road, SURAT



Jhamkudevi Chopra Charitable Trust

11-A,B, Sai Ashish Society

Udhaua Magdalla Road, SURAT



We owe it to you Customers !

It is easy to be No. 1, but difficult to remain there. But, we have been doing it for the past 5 years with our dedicated services and thanks to the invaluable support & trust in us by our valued customers. With promptness in-built, we have been serving the Indian Industries tirelessly against their requirements of **Bearings, Grease, Seals, Blocks, Sleeves & accessories** and a **variety of Maintenance Products** and **Condition Monitoring systems of SKF**. The New Millennium is on; an era that will bring forth a fresh batch of discoveries, newer wonders in technology, a greater fillip to standards of life as a whole. Rest assured, Premier (India) Bearings Limited will remain very much a participant to this absorbing, all-engaging process and will be there with you to meet your requirements.



Bearing is not our only business.

Premier (India) Bearings Limited

(India's No. 1 SKF Industrial Distributors)

25 Strand Road, 4th Floor, Calcutta 700 001, Ph- 220-1926/ 0640, Fax- 2485745, Email-pibl@vsnl.com

Branches at - Mumbai, Chennai, Bangalore, New Delhi, Chandigarh & Haldia



भैवरलाल सिंघी, महामंत्री, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।